मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

वर्ष : 45
अंक : 3

जुलाई - सितंबर 2024

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

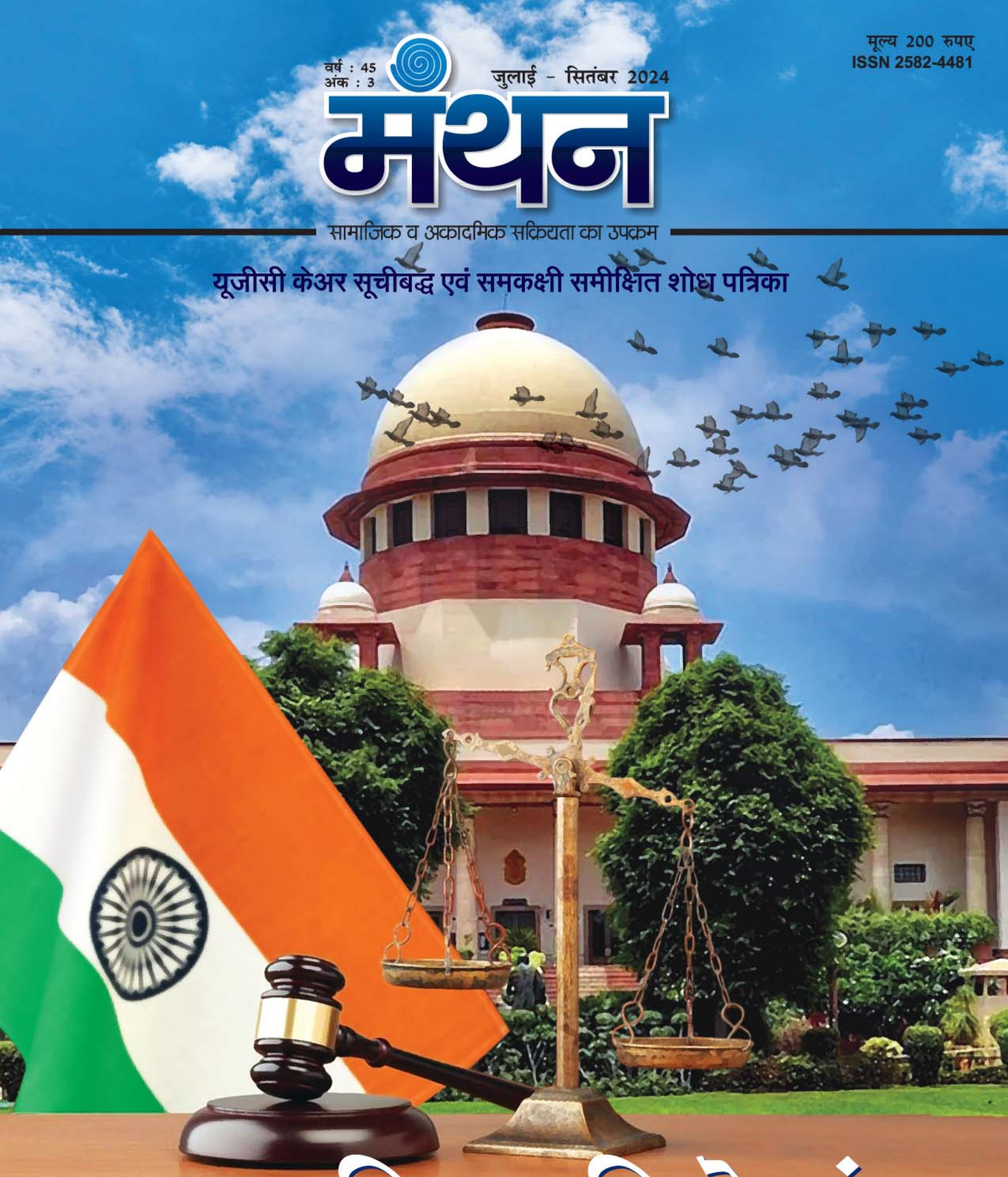

न्यायपालिका विशेषांक

उत्तराखण्ड शासन

प्रधानमंत्री जी के मार्गदर्शन में

उत्तराखण्ड

विकास के नये अध्याय की ओर अग्रसर

"21वीं सदी के विकसित भारत के निर्माण के दो प्रमुख स्तंभ हैं। पहला, अपनी विरासत पर गर्व और दूसरा, विकास के लिए हरसंभव प्रयास।
आज उत्तराखण्ड, इन दोनों ही स्तंभों को मजबूत कर रहा है। ये दशक उत्तराखण्ड का दशक होगा।"

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

"प्रधानमत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी के कुशल नेतृत्व में उत्तराखण्ड समय के साथ परिवर्तनकारी विकास का साक्षी बन रहा है। अत्याधुनिक रोपवे परियोजनाओं के साथ-साथ रेलवे, सड़क और हवाई संपर्क की दिशा में प्रगति हो रही है। इससे उत्तराखण्ड में यात्रा और पर्यटन के क्षेत्र में क्रांतिकारी बदलाव आ रहे हैं। ये बदलाव न केवल पर्यावरण अनुकूल हैं, बल्कि कुशल परिवहन भी सुनिश्चित करते हैं। ये राज्य की अर्थव्यवस्था को भी मजबूती देते हैं। आध्यात्मिक, रोमांचक और सांस्कृतिक पर्यटन के प्रभाव के चलते यह दुनिया भर के आगंतुकों के लिए एक पंसदीदा गंतव्य बन रहा है। हम सतत विकास के लिए दृढ़ संकल्पित हैं। अपनी प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करते हुए एक समृद्ध कल की ओर देख रहे हैं।"

जय हिन्द-जय उत्तराखण्ड

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

विकसित भारत - सशक्त उत्तराखण्ड

- प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर समिट - 2023 के दौरान राज्य सरकार के साथ कुल 3.5 लाख करोड़ रुपये के हुए निवेश समझौते। जिसमें 81 हजार करोड़ के समझौते की ग्राउण्डिंग।
- प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में श्री केदारनाथ धाम का हुआ भव्य एवं दिव्य पुनर्निर्माण कार्य। बद्रीनाथ धाम में मास्टर प्लान के तहत विकास कार्य गतिमान।
- प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के आदि कैलाश और जागेश्वर धाम के दर्शन के बाद मानसखंड यात्रा को मिली नई पहचान।
- चार धामों की कनेक्टिविटी के लिए ऑल वेदर रोड का हुआ निर्माण। ऋषिकेश कर्णप्रयाग रेललाइन का निर्माण कार्य तथा टनकपुर-बागेश्वर रेललाइन सर्वे का कार्य गतिमान।
- नैनीताल जिले की बहुद्देशीय जमरानी बांध परियोजना को प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना के अंतर्गत मिली मंजूरी।
- उत्तराखण्ड जल विद्युत निगम की लखवाड़ परियोजना को मिली मंजूरी।
- उत्तराखण्ड को दो वंदे भारत ट्रेन की मिली सौगात। देहरादून से दिल्ली एवं देहरादून से लखनऊ का सफ़र हुआ आसान।
- दिल्ली - देहरादून के बीच एलिवेटेड रोड के निर्माण कार्य तेजी से जारी, 2 से 2.5 घंटे में सफर होगा पूरा।
- पर्वतीय क्षेत्रों में रोपवे नेटवर्क निर्माण के लिये पर्वत माला परियोजना को मिली मंजूरी। केदारनाथ, हेमकुंड साहिब एवं पूर्णागिरी मंदिर तक रोपवे के निर्माण कार्य का हुआ शिलान्यास।
- उधमसिंहनगर के किच्छा क्षेत्र में एम्स के सैटेलाइट सेंटर का निर्माण कार्य गतिमान। वाइब्रेंट विलेज योजना के तहत उत्तराखण्ड के सीमांत गावों का हो रहा चहुँमुखी विकास।
- जौलीग्रांट एयरपोर्ट एवं पंतनगर एयरपोर्ट को अंतर्राष्ट्रीय एयरपोर्ट के रुप में विकसित करने हेतु कार्य गतिमान।
- प्रधानमंत्री ने दिया वेड - इन - उत्तराखण्ड का मंत्र। जिसके तहत राज्य सरकार नए वेडिंग डेस्टीनेशन का कर रही निर्माण।

नीति आयोग भारत सरकार की ओर से एसडीजी 2023-24 की रिपोर्ट जारी की गई है।
रिपोर्ट में उत्तराखण्ड ने सतत विकास लक्ष्यों की कसौटी पर खरा उतरते हुए पूरे देश में पहला स्थान हासिल किया है।

सूचना एवं लोक संपर्क विभाग, उत्तराखण्ड द्वारा जनहित में जारी।
www.uttarainformation.gov.in uttarakhandDIPR DIPR_UK uttarakhand DIPR

आरएनआई 32486/78 आईएसएसएन 2582-4481

₹ 200/-

अतिथि संपादक
डॉ. सीमा सिंह

संपादक मंडल
श्री रामबहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
प्रो. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

विशेषज्ञ संपादक मंडल
प्रो. सुनील के. चौधरी
प्रो. शीला राय
डॉ. चन्द्रपाल सिंह
डॉ. सीमा सिंह
डॉ. राजीव रंजन गिरी
श्री प्रदीप देसवाल
डॉ. प्रदीप कुमार
डॉ. चन्दन कुमार
डॉ. राहुल चिमूरकर
डॉ. महेश कौशिक

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष : 45, अंक : 3 जुलाई-सितंबर 2024

न्यायपालिका विशेषांक

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
+91-9868550000
me.arvindsingh@manthandigital.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitscopy@gmail.com

मुद्रण
ओसियन ट्रेडिंग को.
132, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

मंथन सामाजिक एवं अकादमिक सक्रियता को समर्पित एक बहुअनुशासनिक, समकक्षी समीक्षित, शैक्षणिक एवं विषयवस्तु केंद्रित शोध पत्रिका है, जो त्रैमासिक आवृत्ति से वर्ष में चार बार प्रकाशित होती है। यह हर बार किसी एक विशिष्ट विषयवस्तु पर केंद्रित होती है। यह मानविकी के विभिन्न अनुशासनों में शोधरत लेखकों के मौलिक शोधलेखों का स्वागत करती है।

सर्वाधिकार © एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान। सर्वाधिकार सुरक्षित।

अस्वीकरण: एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान प्रतिष्ठान अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त सूचनाओं एवं तथ्यों की परिशुद्धता एवं सटीकता सुनिश्चित करने के लिए सभी संभव प्रयास करता है। फिर भी अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त विषयवस्तु की परिशुद्धता, पूर्णता एवं उपयुक्तता के संबंध में कोई वचन नहीं देता और न ही इस संबंध में कोई अभिवेदन देता है। इन प्रकाशनों में अभिव्यक्त विचार एवं दृष्टि लेखकों की है; आवश्यक नहीं है कि एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान इनसे सहमत हो।

प्रकाशक

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002

दूरभाष : 011–23210074; ईमेलः info@manthandigital.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		04
3.	अतिथि संपादक की कलम से		05
4.	दूसरा राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग जरूरी	रामबहादुर राय	10
5.	विवाह कानून एवं उसकी पवित्रता की चुनौतियाँ	डॉ. सीमा सिंह विनायक शर्मा	16
6.	न्यायपालिका और राजव्यवस्था का पंथनिरपेक्षीकरण : एक आलोचनात्मक समीक्षा	प्रो. हिमांशु राय	27
7.	जनहित याचिका : न्यायपालिका में तदर्थवाद और प्रक्रियाओं का अभाव	अंशु कुमार	32
8.	औपनिवेशिक कानूनों के अंत का आरंभ	रामानंद शर्मा प्रो. मनोज सिन्हा	40
9.	न्यायिक सक्रियता बनाम शक्तियों का पृथक्करण	डॉ. कमल कुमार डॉ. रेहनामोल पद्मलंचना रवींद्रन	46
10.	भारत के सतत विकास में कानून, न्यायपालिका और पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान की भूमिका	डॉ. टी. वी. मुरलीवल्लभन अद्वैत एम. वेदांत	52
11.	संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति वांछनीयता एवं चुनौतियाँ	रोहन कृति	59

लेखकों का परिचय

रामबहादुर राय पद्मश्री से सम्मानित। *हिंदुस्तान समाचार* के समूह संपादक और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के अध्यक्ष। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। संपर्क : rbrai118@gmail.com

डॉ. सीमा सिंह लखनऊ विश्वविद्यालय से एलएलएम तथा दिल्ली स्थित जामिया मिल्लिया इस्लामिया से पीएचडी हैं। संवैधानिक विधि, तुलनात्मक संवैधानिक विधि, अंतरराष्ट्रीय आर्थिक विधि, प्रशासनिक विधि, आपराधिक विधि तथा न्याय दर्शन उनकी रुचि के क्षेत्र हैं। वे राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में इन विषयों पर निरंतर लिखती रही हैं। संप्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के कैंपस लॉ सेंटर में प्रोफेसर हैं।

विनायक शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि विभाग में शोधछात्र हैं। उन्हें विधि विषय में जूनियर रिसर्च फेलोशिप से सम्मानित किया गया है। उनकी रुचि के क्षेत्रों में भारतीय न्यायशास्त्र और प्राचीन राजनैतिक विचार शामिल हैं। इसके अलावा, वे अपने कॉलेज के दिनों में छात्र संघ के अध्यक्ष भी रहे। 2022 से 2023 तक, उन्होंने भारत में जी20 यूथ समिट में ट्रेजरी एसोसिएट के रूप में कार्य किया।
संपर्क: vsharma@law.du.ac.in

प्रो. हिमांशु राय दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर हैं। वे अटल बिहारी वाजपेयी सीनियर फेलो, नेहरू म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी (एनएमएमएल), तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली, एनएमएमएल के फेलो रहे हैं। उनकी प्रकाशित कृतियों में पटेल: पोलिटिकल आइडियाज ऐंड पॉलिसीज, सेज (2018), स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया (2017), इंडियन पोलिटिकल थॉट (2017) इंडियन पोलिटिकल सिस्टम (2017) एवं सलवा जुडूम (2014) शामिल हैं। उनकी आगामी कृति है सोशल थॉट इन इंडिक सिविलाइजेशन, सेज, 2022।

अंशु कुमार नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राजनैतिक अध्ययन केंद्र में शोधछात्र हैं। वे जूनियर रिसर्च फेलो और फिर सीनियर रिसर्च फेलो भी रह चुके हैं। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के आर्यभट्ट कॉलेज में सहायक प्रोफेसर के रूप में भी काम कर रहे हैं।

रामानंद शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के आर्यभट्ट कॉलेज में राजनीति विज्ञान पढ़ाते हैं और साथ ही दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएचडी भी कर रहे हैं। उन्हें भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग से इंस्पायर पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है और उन्हें इंडियन सोसाइटी ऑफ इंटरनेशनल लॉ से पीजीडीआईएलडी भी मिल चुका है। उनकी शोध रुचियों में भारतीय राजनीति और राजनैतिक विचार शामिल हैं। रामानंद ने विभिन्न अकादमिक प्रकाशनों में योगदान किया है और एसओएल, डीयू पाठ्यक्रम सामग्री के लिए अध्याय लिखे हैं।

प्रो. मनोज सिन्हा को लंबा शिक्षण अनुभव है। वे नवंबर 2014 से नई दिल्ली स्थित आर्यभट्ट कॉलेज के प्रिंसिपल हैं। वे कई वर्षों तक राज्य पात्रता परीक्षा (एसईटी) के लिए यूजीसी पर्यवेक्षक रहे हैं और उन्होंने विभिन्न समितियों के लिए यूजीसी/वीसी के नामित सदस्य के रूप में कार्य किया है। उनके शोधलेख कई समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही, वे कई पुस्तकों के लेखक और सह-लेखक हैं।

डॉ. कमल कुमार नई दिल्ली स्थित डॉ. बी. आर. अंबेडकर विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ ग्लोबल अफेयर्स में सहायक प्रोफेसर हैं। उन्होंने पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न घटक कॉलेजों में पढ़ाया है। वे अखिल भारतीय स्नातकोत्तर छात्रवृत्ति (2011), यूजीसी जूनियर रिसर्च फेलोशिप (2013) और आईसीएसएसआर अंतरराष्ट्रीय यात्रा अनुदान (2018) के प्राप्तकर्ता हैं। समकक्षी-समीक्षित पत्रिकाओं में उनके कई शोधलेख प्रकाशित हो चुके हैं और राष्ट्रीय समाचार पत्रों में भी उनके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। उन्होंने तीन पुस्तकों का सह-संपादन किया है।

डॉ. रेहनामोल पद्मलंचना रवींद्रन प्रयागराज स्थित इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में सहायक प्रोफेसर हैं। उन्होंने पहले जेडीएमसी और एसपीएम कॉलेज सहित दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न घटक कॉलेजों में पढ़ाया है। उन्हें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से एमफिल और पीएचडी की उपाधि मिली थी। उन्होंने सहकक्षी-समीक्षित शोध पत्रिकाओं में कई शोधलेख लिखे हैं, और नियमित रूप से द हिंदू, द इंडियन एक्सप्रेस, तेलंगाना टुडे और डेक्कन हेराल्ड जैसे लोकप्रिय राष्ट्रीय समाचार पत्रों में लेख भी देती हैं। उनकी शोध रुचियों में अंतरराष्ट्रीय संबंध, दक्षिण एशिया में लैंगिक राजनीति, सामाजिक न्याय और बौद्ध धर्म शामिल हैं।

डॉ. टी. वी. मुरलीवल्लभन केरल में कुट्टीकनम स्थित मैरियन कॉलेज के अंतर्गत मैरियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट में निदेशक हैं। उन्हें 'सर्वश्रेष्ठ कॉलेज शिक्षक पुरस्कार' प्राप्त हो चुका हैं और वे सतत विकास के विभिन्न पहलुओं पर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सेमिनारों/सम्मेलनों में 300 से अधिक शोधपत्र प्रस्तुत कर चुके हैं। इसके अलावा वे भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के स्वतंत्र निदेशक और एनएसएस कॉलेज, वजूर, केरल के प्रिंसिपल भी रह चुके हैं।

अद्वैत एम. वेदांत बैंगलोर स्थित सेंट जोसेफ लॉ कॉलेज में एलएलबी के अंतिम वर्ष के छात्र हैं। उन्होंने विभिन्न राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में कानून के विभिन्न आयामों पर कई शोधपत्र प्रस्तुत किए हैं। वे सेंटर फॉर मीडिएशन आर्बिट्रेशन एंड कैंसलेशन (सीएमएसी), बैंगलोर से प्रशिक्षित मध्यस्थ हैं।

रोहन कृति दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि संकाय के लॉ सेंटर-II में अतिथि संकाय के रूप में पढ़ा रहे हैं। उन्होंने भारतीय विधि संस्थान, नई दिल्ली से संवैधानिक कानून में विधिशास्त्र स्नातक तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि संकाय से विधिशास्त्र स्नातक की डिग्री प्राप्त की है। उनके शोध के क्षेत्रों में संवैधानिक कानून, साइबर आतंकवाद, सामाजिक-आर्थिक अपराध तथा आपराधिक कानून शामिल हैं। उन्होंने राष्ट्रीय सम्मेलनों में शोध पत्र प्रस्तुत किए हैं तथा विभिन्न मूट कोर्ट प्रतियोगिताओं में न्यायाधीश के रूप में कार्य किया है। संपर्क-Rohankriti@hotmail.com

संपादकीय

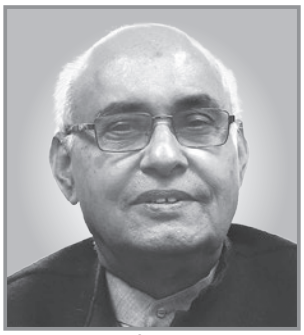

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

वर्ष 2024 का यह तीसरा अंक है, विधायन एवं कार्यपालिका विशेषांक आप पढ़ चुके हैं। न्यायपालिका विशेषांक आपके हाथों में है। भारतीय राज्य व्यवस्था के शोध-परक आलेखों से मंडित हैं, ये तीनों अंक। चौथा अंक भी इसी शृंखला में आने वाला है 'पंचायत राज विशेषांक'।

भारत में न्याय-दर्शन की प्राचीन अवधारणा है लेकिन हमारी न्यायपालिका 'ज्यूडीशियरी' का हिंदी अनुवाद है। इसमें भारतीय न्याय-दर्शन को नहीं खोजा जा सकता। जिसे हम न्यायपालिका कहते हैं, उसके विविध आयामों को रेखांकित करता है यह अंक।

अंक के आलेखों के संदर्भ में इस अंक की विदुषी अतिथि संपादक डॉ. सीमा सिंह का संपादकीय पठनीय है। इसमें सांगोपांग विवेचन है। धर्माधिष्ठित न्याय एवं न्यायिक आध्यात्मिकता को वे प्रखरतापूर्वक वर्णित करती हैं। भारतीय समाजशास्त्र में परिवार ही समाज की लघुतम प्रतिकृति है। परिवार का मूल है विवाह संस्था। इस संस्था की पवित्रता एवं हमारी न्याय व्यवस्था की विसंगति पर इनका अद्‌भुत आलेख इस अंक में है।

आधुनिक संविधानवाद के विविध आयामों को इस अंक के आलेखों ने समेटा है। बहुत सी मूलभूत बातों पर सवाल उठाते हुए श्री राम बहादुर राय ने द्वितीय राष्ट्रीय न्यायिक आयोग के गठन का सुझाव दिया है।

भारत के आम नागरिक क्या हमारी आज की न्याय-व्यवस्था से संतुष्ट है? क्या उसे लगता है कि समय आने पर उसे न्याय मिलेगा? साक्ष्यों के अधिष्ठान पर टिकी निर्णय प्रक्रिया में, गवाहों के साथ जो व्यवहार होता है, वह दयनीय है। वकील संस्था के विषय में एक बार पुनः महात्मा गांधी के 'हिन्द-स्वराज' को पढ़ना चाहिए।

'मंथन' सरोकारी अकादमिकता का 'ऑर्गन' है। सरोकारी विद्वानों का इस अनुसंधान-यज्ञ में स्वागत है। अगले अंक 'पंचायतराज विशेषांक' की प्रतीक्षा कीजिए। शुभम्।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

अतिथि संपादक की कलम से

डॉ. सीमा सिंह

न्यायपालिका - धर्म का शासन और विधि का शासन

"न्याय सर्वोपरि है, प्रकृति का एक मौलिक नियम है। इसके महत्व को पहचानते हुए, मंथन को, 'कार्यपालिका' और 'विधायिका' पर अपने अंकों की सफलता के बाद 'न्यायपालिका' पर अपना तीसरा विषयगत अंक प्रस्तुत करने पर गर्व है। न्याय के महत्व को सभी सभ्यताओं में स्वीकार किया जाता है, और इसके लिए विभिन्न देवताओं को समर्पित किया गया है, जैसे कि ग्रीक पौराणिक कथाओं में जीउस और थेमिस, रोमन संस्कृति में जस्टिटिया और मिस्र की परंपरा में मा'त।" हिंदू त्रिदेव (*त्रिनाथ*) में "न्याय के देवता" के रूप में माने जाने वाले शिव को हिंदू धर्म में मुख्य रूप से विनाश और परिवर्तन के देवता के रूप में पूजा जाता है। यद्यपि उन्हें सामान्य तौर पर न्याय के एकमात्र देवता के रूप में नहीं जाना जाता है, फिर भी वे ब्रह्मांडीय व्यवस्था और संतुलन के सिद्धांतों का प्रतीक हैं जिन्हें प्राय: विध्वंसक और पुनर्योजी दोनों के रूप में दर्शाया जाता है। हिंदू पौराणिक कथाओं में, त्रिदेव में ब्रह्मा (निर्माता), विष्णु (संरक्षक) और शिव (विध्वंसक) शामिल हैं। शिव की भूमिका विनाश से आगे बढ़कर शुद्धिकरण और नवीनीकरण तक फैली हुई है, जो हिंदू धर्म में अस्तित्व की चक्रीय प्रकृति का अभिन्न अंग है, और वे इस त्रिमूर्ति के भीतर सर्वोच्च स्थान रखते हैं।

'त्रिदेव' की अवधारणा जो ब्रह्मांडीय व्यवस्था की बेहतर कार्यप्रणाली के लिए शक्ति के पृथक्करण को दर्शाती है, मोंटेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत में प्रतिबिंबित होती है। दोनों ही संरचनाओं में "न्याय" को विधायिका और कार्यपालिका से उच्च स्थान पर रखा गया है, क्योंकि इसकी प्राथमिक भूमिका सभी बाधाओं के बावजूद 'धर्म' (धार्मिकता) की स्थापना करना है। यह मौलिक जिम्मेदारी न्यायपालिका को विधि के शासन का सबसे बड़ा संरक्षक बनाती है।

'विधि के शासन' की रक्षा करना किसी भी सभ्य राष्ट्र का अंतिम लक्ष्य है। लेकिन इसे प्राप्त करने के लिए हमें 'विधि' को उसके सही अर्थों में समझना होगा। क्या हम वास्तव में इसे उसके सही अर्थों में समझते हैं? यदि ऐसा है, तो हजारों विधियों और अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों के होने के पश्चात भी, हम इस धरती पर रहने वाले अधिकांश जीवों को न्याय दिलाने में असमर्थ क्यों हैं? वैश्विक स्तर पर संघर्ष क्यों बढ़ रहे हैं? वैश्विक से लेकर स्थानीय स्तर तक, क्या विधि वास्तव में लोगों की वैध अपेक्षाओं को पूरा करने में सक्षम हैं? क्या वे कमियों से मुक्त हैं?

आइए सबसे पहले "विधि" को विशुद्ध न्यायशास्त्रीय दृष्टि से नहीं, बल्कि लोकप्रिय अर्थ में समझने की कोशिश करें। 'विधि' एक सक्षम निकाय द्वारा संहिताबद्ध या बनाया गया कुछ है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र (यूएन) प्रणाली में, सभी व्यक्ति, संस्थाएँ और इकाइयां, सार्वजनिक और निजी दोनों, जिसमें राज्य भी शामिल है, उन विधियों के प्रति उत्तरदायी हैं जो सार्वजनिक रूप से प्रख्यापित, समान रूप से लागू और स्वतंत्र रूप से न्यायीकृत हैं।

विधि के शासन के लिए कानून की सर्वोच्चता, कानून के समक्ष समानता, कानून के प्रति उत्तरदायित्व, विधि के कार्यान्वयन में निष्पक्षता, शक्तियों का पृथक्करण, निर्णय लेने में भागीदारी,

विधिक निश्चितता, मनमानी से बचना और प्रक्रियात्मक और विधिक पारदर्शिता सुनिश्चित करने के उपायों की आवश्यकता होती है। विधि के शासन की उत्पत्ति मैग्ना कार्टा से मानी जाती है, जबकि शक्तियों के पृथक्करण की अवधारणा अरस्तू से जुड़ी है। आधुनिक विकासक्रम लोन फुलर, जोसेफ रेज, जेफरी जोवेल, जेरेमी वाल्ड्रोन, जॉन लोक और थॉमस पेन जैसे विद्वानों के लेखन में परिलक्षित होता है। आज विधि के शासन में संसदीय संप्रभुता और गारंटीकृत मौलिक अधिकारों के विचार शामिल हैं।

पश्चिमी दर्शन में, संयुक्त राष्ट्र से लेकर अलग-अलग राष्ट्रों तक, और न्यायविदों से लेकर आम लोगों तक, 'विधि' मुख्य रूप से "मानव निर्मित विधि" के रूप में जानी जाती है। यह "मानव" एक राजा, एक संसद, एक तानाशाह, एक लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई सरकार, एक राष्ट्रपति या कोई अन्य अधिकारी हो सकता है। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यह शक्तिशाली "मानव" बनाया कैसे जाता है। इस तथाकथित "मानव" का मुख्य निर्माता "अनुबंधवादी सिद्धांत" है, जो संप्रभु और व्यक्ति के बीच आपसी हितों के आधार पर एक अनुबंध का वर्णन करता है। राजा के लिए हित उसकी सर्वोच्चता की स्वीकृति है; नागरिक के लिए यह हित संप्रभु द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा है। प्रदाता सदैव शक्तिशाली होता है, और इस प्रकार संप्रभु के पास महत्त्वपूर्ण शक्ति होती है। अधिकांश देशों में, भूटान जैसे कुछ को छोड़कर, संप्रभु (चाहे वह राज्य, सरकार, राजा, तानाशाह, सेना प्रमुख, आदि हो) सब कुछ का प्रदाता है, और इस प्रकार, उसके आदेश मायने रखते हैं। ऑस्टिन के शब्दों में, "संप्रभु का आदेश विधि है।"

इसके विपरीत, संप्रभुता और न्याय की भारतीय अवधारणा पश्चिम से भिन्न है। यहाँ, "अनुबंध सिद्धांत" के अनुसार अनुबंध के पक्ष प्रकृति (देव) और व्यक्ति हैं। विचार सरल है: आप प्रकृति को बचाते हैं, और प्रकृति आपको बचाएगी। प्रकृति कर्तव्य-केंद्रित, प्रदाता और इस प्रकार संप्रभु है। राजा केवल प्रकृति का प्रतिनिधि है, जो प्रकृति की आज्ञा, जिसे राजा के धर्म के रूप में जाना जाता है, से बंधा है। प्रकृति का सबसे मौलिक नियम सर्वोच्च निर्माता द्वारा बनाई गई हर वस्तु के प्रति अविनाशकारी और निष्पक्ष होना है, जिसमें जीवन, गरिमा, विविधता, प्रकृति और प्राकृतिक संसाधन शामिल हैं। राजा, और विस्तारित रूप में राज्य, प्राकृतिक संसाधनों का न्यासी है। यदि आप प्रकृति को नष्ट करते हैं, तो प्रकृति आपको नष्ट कर देगी। इसलिए, मानव निर्मित विधि का उद्देश्य प्रकृति की विधि की सुरक्षा सुनिश्चित करना है। यही कारण है कि "*यतो धर्मस्ततो जय:*" (जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है) को सर्वोच्च न्यायालय के आदर्श वाक्य के रूप में चुना गया।

हाल ही में, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से लेकर प्रमुख शिक्षाविदों तक ने सर्वोच्च न्यायालय के आदर्श वाक्य की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाए हैं और इसे धार्मिक प्रकृति का बताते हुए इसे हटाने की माँग की है। इस तरह की व्याख्याएं निंदनीय हैं और हमारे अपने भारतीय दर्शन की समझ की कमी और पश्चिमी दर्शन पर अत्यधिक निर्भरता से उपजी हैं।

विधि और धर्म के इस टकराव को समझने के लिए हमें यूरोपीय इतिहास के पन्नों को पलटना होगा, जहाँ चर्च और राजा के बीच तनाव स्पष्ट था और बढ़ता जा रहा था, जिसके कारण अंतत: ईसाई धर्म कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट पंथों में विभाजित हो गया। जब अपराध किए जाते थे, तो प्राय: इस बात पर विवाद होता था कि अपराधी पर राज्य के धर्मनिरपेक्ष कानून के तहत मुकदमा चलाया जाना चाहिए या धार्मिक कैनन कानून के तहत। सत्ता की प्यास ने संघर्ष को और बढ़ा दिया। अंतत:, भूमिकाएँ विभाजित हो गईं। मध्ययुगीन यूरोप में, धर्मनिरपेक्ष अधिकारियों, जैसे कि राजा या शासकों द्वारा बनाए गए कानूनों को धर्मनिरपेक्ष कानून माना जाता था। ये कानून राज्य और उसके विषयों के मामलों को नियंत्रित करते थे। इसके विपरीत, चर्च, विशेष रूप से कैथोलिक चर्च द्वारा बनाए गए कानूनों को कैनन कानून के रूप में जाना जाता था, जो चर्च, पादरी और धार्मिक प्रथाओं से संबंधित मामलों से निपटते थे।

कैनन कानून अभी भी कैथोलिक चर्च और दुनिया भर में इसकी संस्थाओं में लागू है, जिसमें वेटिकन सिटी भी शामिल है, जहां यह चर्च प्रशासन और आस्था एवं सिद्धांत से संबंधित मामलों के लिए कानूनी प्रणाली के रूप में कार्य करता है।

इस अलगाव ने राजा को सबसे शक्तिशाली संप्रभु बना दिया और उसके शब्द विधि का शासन बन गए। लोकतंत्र में, राजा की जगह लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई सरकार ने ले ली और विधायिका

द्वारा पारित कानून विधि का शासन बन गए। परंतु, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाता है: एक आधुनिक लोकतांत्रिक प्रणाली में, जहां किसी विशेष दल के लिए सरकार बनाने के लिए संख्या मायने रखती है और अधिकांश राजनैतिक दल अपने वोट बैंक को मजबूत करने के लिए तुष्टिकरण में लगे रहते हैं, क्या चुनी हुई सरकार वास्तव में लोगों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है? कदाचित यही बात रॉल्स को 'अज्ञानता के पर्दे' की कल्पना करने के लिए विवश करती है, जिसके पीछे विधि निर्माता ऐसे कानून बनाते हैं जो सभी के लिए अच्छे हों। किन्तु हम सभी जानते हैं कि यह एक काल्पनिक स्थिति है और वास्तव में संभव नहीं है। यही कारण है कि कई नए कानून विवादों को सुलझाने के बजाय और अधिक मुकदमे पैदा करते हैं। यदि विधियां स्वयं पक्षपात की कमियों से मुक्त नहीं हैं, तो वे सही मायने में विधि का शासन कैसे स्थापित कर सकती हैं? सार यह है कि यदि विधि का शासन पूरी तरह से मानव निर्मित विधियों पर आधारित है, तो वास्तव में विधि के शासन को कभी भी सही मायने में प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

प्रचलित न्यायपालिका, कुछ बुद्धिजीवियों और संभवत: डाइसी के साथ, प्राय: मानव बुद्धि की श्रेष्ठता पर बल देती है। लेकिन, मानव बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं। इसके विपरीत, यह प्रकृति की बुद्धि है जो अंतिम सर्वोच्चता रखती है। यही कारण है कि दुनिया भर की अदालतें मानव निर्मित कानूनों की कमियों को दूर करने के लिए प्राकृतिक कानून की ओर रुख करती हैं। प्राकृतिक कानून, उचित प्रक्रिया और अच्छे विवेक के कानून जैसी अवधारणाएँ अनिवार्य रूप से धर्म के विभिन्न रूप हैं। सर्वोच्च न्यायालय का आदर्श वाक्य, "*यतो धर्मस्ततो जय:,*" इस सिद्धांत को प्रतिबिंबित करता है, और अनुच्छेद 32, 136 और 142 के तहत दी गई शक्तियां इसे बनाए रखने के लिए निर्मित की गई हैं। संक्षेप में, धर्म किसी भी संविधान की मूल संरचना का आधार बनता है।

भारतीय दर्शन में, धर्म संप्रभु की भूमिका को केवल लिखित कानूनों से आगे बढ़ाता है, और न केवल भूमि, पशु, पक्षी, नदियाँ, जंगल और पर्यावरण बल्कि पूरे ब्रह्मांड की रक्षा करने के लिए कर्तव्यनिष्ठ करता है। धर्म न्यायशास्त्र की विभिन्न शाखाओं को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जिसमें पर्यावरण न्यायशास्त्र, पुनर्स्थापनात्मक न्यायशास्त्र, प्रतिपूरक न्यायशास्त्र और पशु अधिकार न्यायशास्त्र आदि शामिल हैं। इसलिए, धर्म अंतिम लक्ष्य का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें न्यायपालिका कानूनों के ढांचे के माध्यम से इसे साकार करने के लिए एक तंत्र के रूप में कार्य करती है।

कौटिल्य, एक प्रतिष्ठित भारतीय विद्वान और विचारक, धर्म के महत्व पर प्रकाश डालते हैं और इसके शासन की स्थापना के लिए आवश्यक नैतिक आधारों पर जोर देते हैं। ये नैतिक सिद्धांत विधि के वास्तविक सार की रक्षा के लिए मुख्य तंत्र के रूप में काम करते हैं।

मंथन का यह संस्करण विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें न्यायाधीशों की नियुक्ति से लेकर स्थिरता की खोज तक न्याय से संबंधित विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। यह न्यायशास्त्र के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल करता है, जिसमें विवाह से लेकर जनहित याचिकाओं तक सब कुछ शामिल है, और इस प्रकार विधि का एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करता है।

इस संस्करण की शुरुआत प्रतिष्ठित पत्रकार और लेखक श्री राम बहादुर राय जी के एक लेख से होती है, जो "*द्वितीय न्यायिक नियुक्ति आयोग - एक आवश्यकता*" के सामयिक और प्रासंगिक मुद्दे को संबोधित करते हैं। न्यायिक व्याख्याओं के माध्यम से न्याय को बनाए रखने में न्यायाधीश की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, जिससे उनकी निष्पक्षता, योग्यता और नियुक्ति प्रक्रिया अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। हाल के दशकों में, न्यायपालिका को सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया पर पड़ताल का सामना करना पड़ा है। यह लेख संवैधानिक अधि देश से लेकर वर्तमान कॉलेजियम प्रणाली तक के विकासक्रम को खंगालते हुए न्यायिक नियुक्तियों पर गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। लेख संसद द्वारा राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) के अधिनियमन से लेकर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इसके अंतिम रूप से निरस्त किए जाने तक की पूरी यात्रा पर प्रकाश डालता है। यह संविधान सभा की बहसों से शुरू होता है, जिसमें "सहमति" के बजाय "परामर्श" शब्द का उपयोग करने के पीछे के तर्क को समझाया गया है। लेखक कॉलेजियम प्रणाली की कमियों की जांच करते हैं और पाते हैं कि यह संवैधानिक भावना से अलग है। अंतत:, लेख अधिक न्यायिक निष्पक्षता सुनिश्चित करने और नियुक्ति प्रक्रिया को संविधान के सिद्धांतों के साथ

बेहतर ढंग से संरेखित करने के लिए दूसरे न्यायिक नियुक्ति आयोग की स्थापना की वकालत करता है।

डॉ. सीमा सिंह और विनायक शर्मा द्वारा लिखित एक अन्य लेख का शीर्षक है "*विवाह न्यायशास्त्र और इसके पवित्र स्वरूप के लिए चुनौतियाँ।*" पहली दृष्टि में, पाठक मुख्य विषय के साथ इसकी प्रासंगिकता पर सवाल उठा सकते हैं। परंतु वैवाहिक संबंधों में शारीरिक स्वायत्तता, समलैंगिक विवाह, वैवाहिक बलात्कार और विवाहित महिला के अपने यौन विकल्प चुनने के अधिकार जैसे मुद्दों को संबोधित करने वाले हाल के मामलों की व्याख्या भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत की गई है। यह लेख इस संदर्भ में प्रासंगिक है क्योंकि यह भारतीय परंपरा के भीतर विवाह की परिभाषा और उद्देश्य की खोज करता है। यह रेखांकित करता है कि, पश्चिमी दृष्टिकोणों के विपरीत जो व्यक्तियों को समाज की मूल इकाई मानते हैं, भारतीय परंपरा में परिवार को समाज की मूल इकाई के रूप में देखा जाता है। भारतीय समाज की शुरुआत से ही विवाह धर्मशास्त्रों द्वारा बताए गए सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कारों में से एक रहा है, जिसे व्यक्तियों से निभाने की अपेक्षा की जाती थी। पति और पत्नी के बीच के मिलन को आपसी दायित्वों के साथ एक पवित्र बंधन के रूप में देखा जाता था। किन्तु, आधुनिक विधिक विमर्श ने एक द्वंद्व पैदा कर दिया है, जिसमें इस बात पर बहस हो रही है कि हिंदू विवाह को एक संस्कार माना जाना चाहिए या एक नागरिक अनुबंध। यह पत्र वेदों, धर्मशास्त्रों, प्राचीन भारतीय ग्रंथों, विधान और न्यायिक घोषणाओं जैसे प्राथमिक स्रोतों की जाँच करके इस द्वंद्व को संबोधित करने का प्रयास करता है। यह उन मुद्दों को भी स्पर्श करता है जिन्होंने विवाह की पवित्रता को नष्ट कर दिया है, और एक संस्था के रूप में विवाह की पवित्रता को बनाए रखने के लिए परामर्श प्रदान करता है।

अपने लेख, "*न्यायपालिका और राजनीति का धर्मनिरपेक्षीकरण: एक आलोचनात्मक समीक्षा*" में, प्रो. हिमांशु रॉय संविधान के धर्म की अवधारणा की खोज करते हैं और इसकी सुरक्षा में न्यायपालिका की भूमिका की जांच करते हैं। उनका तर्क है कि भारतीय संविधान का मूल दर्शन भारतीय संस्कृति के साथ सामंजस्य में है, जहां धर्मनिरपेक्षता स्वाभाविक रूप से एकीकृत है। लेख इस बात पर प्रकाश डालता है कि न्यायपालिका ने विभिन्न निर्णयों के माध्यम से संविधान के धर्म की रक्षा के लिए कैसे काम किया है। प्रो. रॉय चर्चा करते हैं कि न्यायपालिका ने धर्म और राजनीति के बीच के अंतर को कैसे पार किया है, और दोनों के बीच एक स्पष्ट अलगाव बनाए रखने का प्रयास किया है। प्रो. रॉय यह भी चर्चा करते हैं कि कैसे सर्वोच्च न्यायालय ने विभिन्न निर्णयों को सही ठहराने के लिए धार्मिक प्रथाओं को आवश्यक या अनावश्यक के रूप में वर्गीकृत किया है, जैसे कि गोहत्या पर प्रतिबंध, विकास उद्देश्यों के लिए धार्मिक स्थलों का अधिग्रहण और देश भर में समान नागरिक संहिता का कार्यान्वयन। उनका लेख धर्मांतरणों को विनियमित करने में न्यायपालिका की भूमिका की भी आलोचनात्मक अन्वेषण करता है। इसके अतिरिक्त, प्रो. रॉय धार्मिक अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों पर प्राथमिकता देने के मुद्दे को संबोधित करते हैं, विशेष रूप से शैक्षणिक संस्थानों के प्रबंधन के संदर्भ में। उनका तर्क है कि संविधान सभा की बहसों और संविधान की सच्ची धर्मनिरपेक्ष भावना को देखते हुए यह दृष्टिकोण तर्कसंगत और न्यायसंगत दोनों है।

अपने लेख, "*जनहित याचिका (पीआईअल): न्यायपालिका में तदर्थवाद और प्रक्रियाओं का अभाव*" में अंशु कुमार न्याय प्रदान करने में जनहित याचिका (पीआईअल) की भूमिका पर ध्यान केंद्रित करते हुए भारत में न्यायपालिका लोकतंत्र के साथ कैसे अंत:क्रिया करती है, इसका एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्रदान करते हैं। कुमार का तर्क है कि जबकि जनहित याचिकाओं के निषतारण के लिए व्यापक दिशानिर्देश मौजूद हैं, उनके दाखिल करने और न्यायनिर्णयन के लिए ठीक से परिभाषित प्रक्रियाओं की कमी न्यायपालिका को महत्त्वपूर्ण विवेकाधिकार प्रदान करती है, जिससे असंगत निर्णय होते हैं। ऐतिहासिक मामलों और कानूनी मिसालों की जांच करके, लेख लोकतांत्रिक सिद्धांतों को मजबूत करने और जवाबदेही सुनिश्चित करने पर जनहित याचिका के प्रभाव का आकलन करता है। साथ ही, यह इस बात को भी संबोधित करता है कि कैसे जनहित याचिकाओं का कभी-कभी निहित स्वार्थों द्वारा दुरुपयोग किया जाता है, जो राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रभावित करता है

अपने लेख "*औपनिवेशिक कानूनों के अंत की शुरुआत*" में रामानंद शर्मा और प्रो. मनोज सिन्हा ने 1 जुलाई, 2024 से प्रभावी तीन नए आपराधिक कानूनों की शुरूआत पर चर्चा की है। लेखकों का तर्क है कि ये कानून 1860 के भारतीय दंड संहिता (आईपीसी), 1973 के दंड प्रक्रिया संहिता (सीआरपीसी) और 1872 के भारतीय साक्ष्य अधिनियम की जगह लेकर एक आधुनिक, आत्मनिर्भर

भारत की नींव रखेंगे। नए कानूनों का उद्देश्य न्याय वितरण में तेजी लाना और डिजिटल युग के अनुकूल होना है। लेख में इन आपराधिक कानूनों के औपनिवेशिक दंड प्रणाली से समकालीन भारतीय न्याय प्रणाली में संक्रमण की पड़ताल की गई है।

अपने लेख "*न्यायिक सक्रियता बनाम शक्तियों का पृथक्करण*" में डॉ. कमल कुमार और डॉ. रेहनामोल पद्मलंचना रवींद्रन शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत और संविधान तथा अन्य कानूनों की व्याख्या तथा निर्णय देने में न्यायपालिका की भूमिका का पता लगाते हैं। उनका तर्क है कि न्यायिक सक्रियता तब लाभकारी हो सकती है जब वह संवैधानिक सीमाओं और उद्देश्यों के भीतर रहे, लेकिन अगर वह इन सीमाओं से परे जाए तो संघर्ष की स्थिति पैदा हो सकती है। लेख में स्वीकार किया गया है कि न्यायिक सक्रियता को अक्सर न्याय सुनिश्चित करने और जनता के इस विश्वास को मजबूत करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण तंत्र के रूप में देखा जाता है कि न्याय सभी के लिए सुलभ है। न्यायिक सक्रियता के समर्थकों का तर्क है कि संवैधानिक मूल्यों को बनाए रखने और नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है। इसके विपरीत, विरोधी इसे शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन मानते हैं, और यह सुझाते हैं कि यह विधायी और कार्यकारी प्राधिकरण को कमजोर करता है। यह पत्र न्यायिक सक्रियता की अवधारणा और शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के साथ इसके संबंध की जांच करता है। यह दोनों अवधारणाओं और उनके ऐतिहासिक विकास के संक्षिप्त अवलोकन से शुरू होता है। फिर यह पत्र न्यायिक सक्रियता और शक्तियों के पृथक्करण पर बहस में समर्थकों और आलोचकों दोनों के तर्कों और मान्यताओं का अन्वेषण करता है।

अपने लेख "*सतत विकास: भारत में कानून, न्यायपालिका और पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान की भूमिका*" में डॉ. टी. वी. मुरलीवल्लभन और अद्वैत एम. वेदांत ने भारतीय पर्यावरणीय न्यायशास्त्र पर विस्तार से चर्चा की है। उनका तर्क है कि पर्यावरण की रक्षा के लिए वैश्विक प्रयास अक्सर सतत विकास लक्ष्यों (एसडीजी) को प्राप्त करने में विफल हो जाते हैं, और यह सुझाते हैं कि ये प्रयास वास्तविक से अधिक प्रतीकात्मक हैं। लेखक दर्शाते हैं कि 20वीं सदी के पर्यावरणीय मुद्दे 21वीं सदी के संकटों में कैसे विकसित हो गए हैं, बावजूद इसके कि उन्हें संबोधित करने के लिए वैश्विक पहल जारी है। इस लेख में लेखक आगे बताते हैं कि कैसे भारत में पर्यावरण संरक्षण की समृद्ध परंपरा है, जिसकी सांस्कृतिक प्रथाएं पर्यावरणीय गिरावट के विरुद्ध निवारक उपायों के रूप में काम करती हैं। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने भारत में कानूनी संस्थाओं की भूमिका को और अधिक सरल बना दिया है। लेख प्रभावी ढंग से मानव अस्तित्व के लिए पर्यावरणीय न्याय के महत्व पर प्रकाश डालता है और वैश्विक पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देने में भारत में कानून, न्यायपालिका और पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान की भूमिकाओं की जांच करता है।

अपने लेख, "*संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति: वांछनीयता और चुनौतियाँ*" में रोहन कृति ने न्यायपालिका के सामने आने वाले मुद्दों, विशेष रूप से स्थिर न्यायिक संख्याशक्ति के बीच लंबित मामलों की बढ़ती संख्या को संबोधित किया है। यह लेख संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति से जुड़े लाभों और चुनौतियों दोनों की जांच करता है। यह ऐसी नियुक्तियों के संभावित लाभों की खोज करता है, साथ ही इसमें शामिल व्यावहारिक कठिनाइयों और बाधाओं पर भी चर्चा करता है।

मुझे आशा है कि पाठकगण 'न्यायपालिका' विषय पर मंथन के इस विशेष संस्करण को पढ़ने के बाद स्वयं को संतुष्ट और समृद्ध पाएंगे।

डॉ. सीमा सिंह

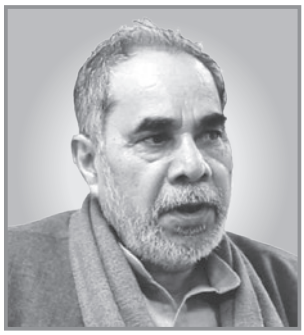

रामबहादुर राय

दूसरा राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग जरूरी

न्यायमूर्ति एम.एन. वेंकटचेलैया आयोग ने कोलेजियम के स्थान पर राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग की सिफारिश की थी। सरकार ने आयोग का गठन भी कर दिया। इसके बावजूद कोलेजियम प्रणाली अब तक चली आ रही है। क्यों, एक तथ्यपरक विवेचन

इस बात के लिए किसी को भारतीय संविधान का जानकार होना कतई जरूरी नहीं है। अगर वह जानकार है, तो इससे बढ़िया बात क्या होगी! लेकिन जो संविधान से बहुत परिचित नहीं है और दिन-दुनिया की खबर रखता है, वह भी इस बात को आसानी से समझ जाएगा। प्रश्न होगा कि बात क्या है? बात यह है कि सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट में जजों की नियुक्ति पर एक लंबे अरसे से गंभीर विवाद है। इस विवाद के कई पक्ष हैं। सुप्रीम कोर्ट का कोलेजियम एक पक्ष है। एक पक्ष है, भारत सरकार। एक पक्ष है, नेता, वकील, सामाजिक कार्यकर्ता और लेखक-बुद्धिजीवी और कम महत्त्वपूर्ण पक्ष संसद भी नहीं है, सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह विवाद कभी शांत रहता है, कभी इसका अंधड़ चलता है। यह बात अलग है कि अंधड़ की रफ्तार अब तक इतनी भयानक नहीं हो सकी है कि संविधान के पेड़-पौधे और बिजली के खंभे टूट कर जमीन पर गिर जाएँ। लेकिन मौसम के बदलते मिजाज में इसकी गारंटी कौन दे सकता है!

ऐसे गंभीर विवाद का इतिहास जानने से पहले यह समझना चाहिए कि संविधान का इस बारे में दिशानिर्देश क्या है? भारत सरकार के विधि और न्याय मंत्रालय ने 2021 में 'भारत का संविधान' का अद्यतन संस्करण निकाला है। इसमें वह अनुच्छेद है, जो नियुक्तियों की प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण देता है।[1] इस विवरण में दिशानिर्देश तो है, पर वह गंभीर विवाद भी है, जो बना हुआ है। यह संविधान की यात्रा कथा भी है। जिसमें जजों की नियुक्ति का इतिहास छिपा है। इसमें संसद और न्यायपालिका के द्वंद की कहानी भी खोजने पर मिल जाती है। इस तरह हमें इतिहास और कहानी को तथ्यों के आइने से पहले देखना चाहिए। तब यह जानना जरूरी होगा कि संविधान सभा में इस विषय पर सदस्यों ने क्या-क्या बातें कीं। उनके विचार क्या थे? उनके सुझाव क्या थे? उनकी बातों और सुझावों में एक दृष्टिकोण था।

संविधान सभा की बहस उसे बढ़िया ढंग से समझाती है।[2] इस विषय पर संविधान सभा में बहुत जमकर बहस हुई। उसमें चार बातें थी। एक, शक्ति विभाजन का सिद्धांत। इसका अर्थ स्पष्ट है कि सरकार, संसद और न्यायपलिका का क्षेत्र अलग-अलग है। इनका कार्य भी अलग-अलग है। इसलिए न्यायपालिका को सरकार और संसद से स्वतंत्र रहना चाहिए। दो, जजों की नियुक्तियों में सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस की सहमति ली जानी चाहिए। तीन, जजों की नियुक्तियों में सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस को वीटो पावर होना चाहिए। चार, सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस की सलाह और सिफारिश से राष्ट्रपति जजों की नियुक्ति करें। इन चार प्रकार के सुझावों और संशोधनों पर संविधान सभा की जो बहस कार्यवाही में दर्ज है, उसमें बड़े-बड़े नामों का उल्लेख है। जैसे, के.टी. शाह, जवाहरलाल नेहरू और अन्य। बी. पोकर साहब और महबूब अली बेग साहब ने एक ही तरह का संशोधन रखा था कि सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस की सहमति से ही जजों की नियुक्ति हो। इस संशोधन को डा. बी.आर. अंबेडकर ने 'एक खतरनाक प्रस्ताव' बताया। उन्होंने कहा-"मेरे विचार से न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में मुख्य न्यायाधीश के मत को मानने का अर्थ यह होगा कि उसे वह अधिकार प्राप्त हो जाएगा जो हम न तो राष्ट्रपति को और न तत्कालीन सरकार को देने के लिए तैयार हैं। इसलिए मेरे विचार से यह भी एक खतरनाक

प्रस्ताव है।"[3]

संविधान सभा ने इन चारों बातों को नामंजूर कर दिया। संविधान सभा ने जजों की नियुक्ति के लिए अनुच्छेद-124 और अनुच्छेद-217 का प्रावधान रखा। इस प्रावधान में तीन बातें हैं। एक, राष्ट्रपति जजों की नियुक्ति करेंगे। दो, अगर उन्हें जरूरी लगेगा तो नियुक्तियों में वे परामर्श करेंगे। राष्ट्रपति सुप्रीम कोर्ट के जजों की नियुक्तियों में चीफ जस्टिस से हमेशा परामर्श करेंगे। इसी तरह हाई कोर्ट में नियुक्तियों का एक प्रावधान है। लेकिन 1993 से कोलेजियम प्रणाली आ गई है। इस कोलेजियम प्रणाली ने संविधान की व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया है। अब प्रक्रिया पलट गई है। सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस कोलेजियम के प्रधान होते हैं। कोलेजियम ही प्रक्रिया प्रारंभ करता है। वहाँ से नाम राष्ट्रपति को भेजे जाते हैं। नाम भेजे जाने से पहले परामर्श की कोई प्रक्रिया नहीं अपनाई जाती। इस प्रक्रिया में प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति की भूमिका नगण्य हो गई है, जो पहले निर्णायक थी।

इसका परिणाम यह हुआ है कि राष्ट्रपति कोलेजियम की सिफारिश पर जजों की नियुक्ति 1993 से कर रहे हैं। इससे संवैधानिक व्यवस्था को बड़ा नुकसान पहुँचा है। संविधान में व्यवस्था है कि "राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी। जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति इनके परामर्श के अनुसार कार्य करेंगे।"[4] कोलेजियम प्रणाली से जजों की नियुक्ति के प्रश्न पर यह प्रावधान विलुप्त हो गया है। क्या संविधान सभा ने ऐसा सोचा था? ऐसे ही कोलेजियम से संविधान के अनुच्छेद-124 का भी उल्लंघन हो रहा है। इसके अलावा कई संवैधानिक विकृतियाँ पैदा हुई हैं। एक, सुप्रीम कोर्ट ने वह कार्य अपने हाथ में ले लिया है जो भारत सरकार का है। प्रश्न है कि कोलेजियम को क्या चुनौती दी जा सकती है?

इसका उत्तर इस उदाहरण में है। "सुप्रीम कोर्ट ने उच्च न्यायपलिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति संबंधी कोलेजियम प्रणाली को समाप्त करने का अनुरोध करने वाली याचिका को सूचीबद्ध किए जाने पर विचार करने से सोमवार को इनकार कर दिया।"[5] यह 29 अप्रैल, 2024 की बात है। पूरी खबर इस प्रकार है- "प्रधान न्यायाधीश डीवाई चंद्रचूड़, न्यायमूर्ति जेबी पारदीवाला एवं न्यायमूर्ति मनोज मिश्रा की पीठ ने वकील मैथ्यूज नेदुंपरा की इस दलील पर गौर किया कि कोलेजियम प्रणाली को खत्म करने का अनुरोध करने वाली उनकी रिट याचिका को सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किया जाना है। वकील ने कहा कि मैंने कई बार इसका उल्लेख किया है। रजिस्ट्री ने इसे खारिज कर दिया है और वह मेरी याचिका को सूचीबद्ध नहीं कर रही है। प्रधान न्यायाधीश ने कहा कि रजिस्ट्रार (सूचीबद्ध करने से संबंधित) ने कहा है कि जब संविधान पीठ किसी चीज पर एक बार फैसला सुना दे तो अनुच्छेद-32 के तहत याचिका (इस अनुच्छेद के तहत मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर याचिका सीधे सुप्रीम कोर्ट में दायर की जा सकती है) सुनवाई योग्य नहीं होती।"

"रजिस्ट्रार के आदेष के विरुद्ध अन्य उपाय भी हैं। वकील ने कहा कि राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग पर फैसले के खिलाफ समीक्षा याचिका चैंबर में खारिज कर दी गई थी। उन्होंने कहा कि यह संस्था की विश्वसनीयता का सवाल है। कोलेजियम प्रणाली को खत्म करना होगा। इस पर प्रधान न्यायाधीश ने कहा कि मैं माफी चाहूंगा। पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग अधिनियम और 99वें संविधान संशोधन को 16 अक्टूबर, 2015 को असंवैधानिक करार दिया था और इसे खारिज कर दिया था। इसमें नेताओं और नागरिक समाज को उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया में अंतिम अधिकार देने का प्रावधान था। पीठ ने कहा था कि स्वतंत्र न्यायपालिका संविधान की मूल संरचना का हिस्सा है। एनडीए सरकार ने कोलेजियम प्रणाली को हटाने के लिए राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग विधेयक पारित किया था। इस प्रणाली के तहत न्यायाधीशों का एक समूह फैसला करता कि सुप्रीम कोर्ट व उच्च न्यायालयों के जज कौन होंगे। राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग ने इसके लिए छह सदस्यों वाली एक संस्था बनाने का प्रस्ताव रखा था जिसमें प्रधान न्यायाधीश, सुप्रीम

कोर्ट के दो वरिष्ठतम जज, केंद्रीय विधि एवं न्याय मंत्री और दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों को सदस्य बनाने की बात की गई थी।"[6]

सुप्रीम कोर्ट के इस हाल-फिलहाल के निर्णय में दो तत्व हैं। पहला कि कोलेजियम को राज्य का दर्जा प्राप्त नहीं है। इसलिए संविधान के अनुच्छेद-12 के तहत मौलिक अधिकार के उल्लंघन के आधार पर कोलेजियम को चुनौती नहीं दी जा सकती। इस कारण कोलेजियम वह पहाड़ हो गया है जो अनुल्लंघनीय है। जिसे कोई पार नहीं कर सकता। न्याय और अन्याय की भाषा में अगर कहें, तो इसके सामने न्याय पाने का कोई उपाय नहीं है। ऐसी कोलेजियम संविधान के अनुच्छेद-32 और अनुच्छेद-226 की अवहेलना करती है। यहाँ यह जानने का विषय है कि संविधान अपने अनुच्छेद-32 में यह व्यवस्था करता है कि कोई नागरिक अपने अधिकारों के लिए सुप्रीम कोर्ट के दरवाजे पहुँचकर न्याय माँग सकता है। इसी तरह अनुच्छेद-226 में कुछ अधिकारों के लिए सुप्रीम कोर्ट में याचिका देने का प्रावधान है।

दूसरा तत्त्व संविधान की व्याख्या से संबंधित है। वह क्या है? "स्वतंत्र न्यायपालिका संविधान की मूल संरचना का हिस्सा है।" यह बात सुप्रीम कोर्ट ने कोलेजियम को चुनौती देने वाली याचिका को सुनने से भी इनकार करने के समय कही। जिसका समाचार ऊपर के पैरे में उद्धृत किया गया है। संविधान की मूल संरचना क्या है? यह अस्पष्ट है, हालाँकि समय-समय पर सुप्रीम कोर्ट ने इसे विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है। इसकी एक समय में जो परिभाषा सुप्रीम कोर्ट ने की, उसे दूसरे समय में बदल दिया। यह भी कह सकते हैं कि उसका विस्तार किया। याद करिए, 24 अप्रैल, 1973 को सुप्रीम कोर्ट ने एक फैसला सुनाया। वह चर्चित है। बहुत प्रसिद्ध है। उसे केशवानंद भारती फैसले के नाम से जाना जाता है। सुप्रीम कोर्ट का वह फैसला 703 पन्नों में फैला हुआ है। यानी उस दिन सुप्रीम कोर्ट ने संविधान पर एक नई किताब लिख दी।

उसे लिखने में 13 जज शामिल थे। पर वे बँटे हुए थे। क्यों उनमें मतभेद था? यही बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। 6 जजों ने अपने फैसले में लिखा कि संसद को संविधान में परिवर्तन का असीम अधिकार है। उनका नेतृत्व जज ए.एन. रे कर रहे थे। लेकिन न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना ने इससे सहमत होते हुए भी एक शर्त जोड़ दी। वह यह कि संसद को संविधान की मूल संरचना से छेड़छाड़ का अधिकार नहीं है। इस एक वाक्य से एक नया सिद्धांत निकला। जिससे चीफ जस्टिस एस.एम. सीकरी भी सहमत हुए। इस प्रकार छह के मुकाबले एक अधिक जज का वह फैसला था। मजेदार बात इसमें यह है कि संविधान की मूल संरचना का सिद्धांत उस फैसले में अपरिभाषित है। सुप्रीम कोर्ट ने इस सिद्धांत की रचना कर एक ऐसी बहस छेड़ दी, जो विराम लेने का नाम नहीं ले रही है।

सीधे-सीधे दो खेमे बन गए हैं। एक खेमा है, जो केशवानंद भारती फैसले से निकले मूल संरचना के सिद्धांत को लोकतंत्र का रक्षक बताते अघाता नहीं है। सीनियर एडवोकेट अरविंद पी दातार का लेख इस खेमे का प्रतिनिधित्व करता है।[7] ये लेख उस फैसले की 50वीं वर्षगाँठ पर छपे। इस दृष्टि से उसका अपना महत्त्व है। 24 अप्रैल, 2023 को अंग्रेजी अखबारों में इस पर लेख छपे और वह सिलसिला कुछ दिनों तक चला। इन लेखों में उस समय की परिस्थिति और घटनाओं का विस्तृत उल्लेख है। हर लेख में मूल संरचना के सिद्धांत को उचित ठहराते हुए इसका भी उल्लेख है कि यह अब तक अस्पष्ट है। इंडियन एक्सप्रेस ने 26 अप्रैल को फली एस. नरीमन का इंटरव्यू छापा। जिसमें वे इसे संविधान की आधारशिला मानते हैं। चूँकि सुप्रीम कोर्ट इस सिद्धांत का जनक है इसलिए इन पचास सालों में समय-समय पर सुप्रीम कोर्ट ने ही मूल संरचना के विविध आयामों को स्वयं पहचाना और उसे अपने फैसलों में सुनाया।

दूसरा खेमा है, जो समय-समय पर यह मत व्यक्त करता रहा है कि मूल संरचना का सिद्धांत अब तक स्पष्ट नहीं है। इस पर गंभीर मतभेद हैं। संविधान की इससे मनमानी व्याख्या हुई है। पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई ने राज्यसभा में मतभेद की बात उठाई, तो अगले ही दिन मुख्य न्यायाधीश डीवाई चंद्रचूड़ ने कहा कि यह उनका निजी मत है। उपेंद्र बक्सी का विचार है कि मूल संरचना का सिद्धांत हालांकि अत्यंत विवादास्पद है फिर भी संसद ने भी इसे स्वीकार कर लिया है।[8] इसका एक अर्थ यह है कि मूल संरचना का सिद्धांत विकासमान है और स्वीकृति पाता जा रहा है। यह सिद्धांत क्यों निकला और उसका समय क्या था, इसे जाने वगैर बात पूरी नहीं होती। इंदिरा गांधी से सुप्रीम कोर्ट आशंकित था। वे एस.एम. सीकरी को चीफ जस्टिस नहीं बनाना चाहती थीं। उन्हें बनाना पड़ा। उस फैसले के अगले दिन वे रिटायर हुए। तब तीन सीनियर जजों की उपेक्षा कर ए.एन. रे को चीफ जस्टिस बनाया गया।

भारत के सॉलिसिटर जनरल तुषार मेहता ने अपने एक भाषण में बताया कि संविधान की मूल संरचना के सिद्धांत का उल्लेख सबसे पहले 1965 में न्यायमूर्ति मधोलकर ने किया। यह उस समय की बात है जब सुप्रीम कोर्ट सज्जन सिंह मामले की सुनवाई

सीधे-सीधे दो खेमे बन गए हैं। एक खेमा है, जो केशवानंद भारती फैसले से निकले मूल संरचना के सिद्धांत को लोकतंत्र का रक्षक बताते अघाता नहीं है। सीनियर एडवोकेट अरविंद पी दातार का लेख इस खेमे का प्रतिनिधित्व करता है। ये लेख उस फैसले की 50वीं वर्षगाँठ पर छपे। इस दृष्टि से उसका अपना महत्त्व है। 24 अप्रैल, 2023 को अंग्रेजी अखबारों में इस पर लेख छपे और वह सिलसिला कुछ दिनों तक चला। इन लेखों में उस समय की परिस्थिति और घटनाओं का विस्तृत उल्लेख है। हर लेख में मूल संरचना के सिद्धांत को उचित ठहराते हुए इसका भी उल्लेख है कि यह अब तक अस्पष्ट है

कर रहा था। इसका प्रमुख कारण यह था कि भारत सरकार लगातार 9वीं अनुसूची के तहत कानून बनाती जा रही थी। तुषार मेहता अपने भाषण में कहते हैं कि "हमें संवैधानिक इतिहास पर ध्यान देना है, न कि राजनैतिक इतिहास पर।"[9] इसी क्रम में वे कहते हैं कि 1966 में नेतृत्व परिवर्तन हुआ। इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। तब यह बहस तेज हुई कि संसद को अगर संविधान में संशोधन का असीमित अधिकार बना रहे तो नागरिक हितों का क्या होगा! इस आशंका को तब बल मिला, जब गोलक नाथ मामले पर सुप्रीम कोर्ट के फैसले को बदलने के लिए संसद ने संविधान में संशोधन किया। वह 1971 में किया गया, जिसे 24वाँ संविधान संशोधन कहते हैं। 'संविधान के अनुच्छेद-13 में धारा (4) जोड़ दी गई। इस प्रावधान को संशोधनों से परे कर दिया।...इसी तरह अनुच्छेद-368 भी संशोधित किया गया। इस संशोधन से संसद को संविधान के किसी हिस्से को रद्द करने या संशोधित करने का अधिकार मिल गया। उसी क्रम में 25वाँ संविधान संशोधन किया गया। उससे भूमि सुधार कानून आया और कुछ मौलिक अधिकारों को सीमित कर दिया गया।'[10]

उसके बाद ही केशवानंद भारती का मामला आया। जिसमें 13 जज थे। उससे पहले गोलक नाथ मामले की सुनवाई 11 जजों की बेंच ने की थी। केशवानंद भारती मामले से ही वह रोचक कहानी शुरू होती है, जिसे कई रूपों में जाना जाता है। उस मामले में जो बहस सुप्रीम कोर्ट में हुई, उसका नेतृत्व नानी पालकीवाला कर रहे थे। केशवानंद भारती मामले की सुनवाई कर रही बेंच ने उनसे पूछा कि संविधान से संसद बनी है। उसे संविधान संशोधन का अधिकार है। संसद जन-आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए संविधान संशोधन संबंधी उसके अधिकार को क्यों न ज्यों का त्यों रखा जाए? इस पर नानी पालकीवाला ने जो तर्क दिए वे सुप्रीम कोर्ट को जंच गए। उनका तर्क था कि संसद को असीमित अधिकार अगर दिया गया तो वह लोकतंत्र के स्वरूप को ही मनमाने ढंग से बदल सकती है। तुषार मेहता ने नानी पालकीवाला के कथन को विभिन्न संस्मरणों से खोजा था। अपने तर्क के निष्कर्षस्वरूप नानी पालकीवाला ने सुप्रीम कोर्ट से अपील की कि "आपको यह स्पष्ट करना चाहिए कि भारत के संविधान की मूल संरचना का आधार लोकतंत्र है। इसलिए भारत एक गणराज्य है।"[11] तुषार मेहता ने कहा कि बेंच के कई जज इससे सहमत हुए। इस तरह केशवानंद भारती मामले से संविधान की मूल संरचना का सिद्धांत निकला।

इतिहास के उस दौर का कोलेजियम से गर्भनाल का संबंध है। संविधान की मूल संरचना का सिद्धांत दो काम करता है। संसद पर सुप्रीम कोर्ट का पहरा बैठाता है। यह पहला काम है। दूसरा काम है, कोलेजियम का अंततः गठन। इसका एक इतिहास है। जिसका संबंध इंदिरा गांधी की सरकार और सुप्रीम कोर्ट के बीच करीब एक दशक तक चली तनातनी से है। वह अघोषित युद्ध था। जब इंदिरा गांधी ने ए.एन. रे को चीफ जस्टिस बनवाया तो संसद में सवाल उठे। कानून मंत्री थे, एच.आर. गोखले। लेकिन सरकार का बचाव मोहन कुमार मंगलम ने किया। उन्होंने संसद में कहा कि इसे एक संदर्भ में देखने की जरूरत है

इतिहास के उस दौर का कोलेजियम से गर्भनाल का संबंध है। संविधान की मूल संरचना का सिद्धांत दो काम करता है। संसद पर सुप्रीम कोर्ट का पहरा बैठाता है। यह पहला काम है। दूसरा काम है, कोलेजियम का अंततः गठन। इसका एक इतिहास है। जिसका संबंध इंदिरा गांधी की सरकार और सुप्रीम कोर्ट के बीच करीब एक दशक तक चली तनातनी से है। वह अघोषित युद्ध था। जब इंदिरा गांधी ने ए.एन. रे को चीफ जस्टिस बनवाया तो संसद में सवाल उठे। कानून मंत्री थे, एच.आर. गोखले। लेकिन सरकार का बचाव मोहन कुमार मंगलम ने किया। उन्होंने संसद में कहा कि इसे एक संदर्भ में देखने की जरूरत है। वह संदर्भ है, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, प्रिवीपर्स और केशवानंद भारती का फैसला। इस संदर्भ के जरिए कम्युनिस्ट रुझान के मोहन कुमार मंगलम सुप्रीम कोर्ट को प्रतिगामी नीतियों का पोषक बता रहे थे।

याद करें, ए.एन. रे ही इमरजेंसी में चीफ जस्टिस थे। 1977 में इंदिरा गांधी ने पुनः वरिष्ठताक्रम को तोड़ा और एच.आर. खन्ना को लाँघकर एम.एच. बेग को चीफ जस्टिस बनवाया। केशवानंद भारती मामले में ए.एन.रे और एम.एच.बेग ने सरकार के पक्ष में फैसला लिखा था। जनता शासन के अल्पजीवी होने के बाद जब इंदिरा गांधी 1980 में पुनः सत्ता में आईं, तो पेशे से वकील पी. शिवशंकर कानून मंत्री बने। उन्होंने 18 मार्च, 1981 को एक आदेश जारी करवाया। जिसमें हाई कोर्ट के एक तिहाई जजों का अजीबोगरीब स्थानांतरण किया गया था। जजों ने इसे चुनौती दी। लेकिन फैसला उनके विरुद्ध आया। "उस फैसले में सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस पर एक संवैधानिक टिप्पणी थी। वह यह कि संविधान में चीफ जस्टिस के पद को प्रमुखता का स्थान नहीं है।"[12] यहाँ से सुप्रीम कोर्ट और भारत सरकार में अघोषित युद्ध शुरू हुआ। कानूनी भाषा में वह पहला जजेज केस कहलाता है। दूसरा जजेज केस 1993 में आया। उसी मामले में अपने फैसले से सुप्रीम कोर्ट ने जजों की नियुक्ति को न्यायपालिका की स्वतंत्रता और संविधान की मूल संरचना का विषय बनाया। जिससे कोलेजियम निकला और वह संविधान में हो या न हो, पर संसद से ऊँचे सिहांसन पर विराजमान है। इसकी पुनः पुष्टि 1998 में सुप्रीम कोर्ट ने की। वह तीसरा जजेज मामला कहलाता है।

इन तीन 'जजेज मामले' से संविधान का एक नया आयाम उभरा। वह है, मूल संरचना का सिद्धांत। "विधिक विकास के इतिहास में मूल संरचना की अवधारणा संविधानवाद के क्षेत्र में नए मोड़ की सूचक है।"[13] इससे सुप्रीम कोर्ट के मनोविज्ञान की दृष्टि

से देखने पर 'दूध से जला...' कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती है। इस पर आम सहमति है कि भारतीय राजनीति में 2014 वह मोड़ है, जहाँ से स्वाधीनता संग्राम के स्वराज की यात्रा पुनः शुरू होती है। इसमें यह जरूरी था कि सुप्रीम कोर्ट को अभय बनाया जाए, जो सकारण लंबे समय से नहीं था। इसका उपाय यज्ञ, हवन, मंत्र और उपासना के संवैधानिक पद्धति में है। वह संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया है। इसे ही अपनाया गया। जिसके परिणामस्वरूप प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की सरकार ने संविधान में संशोधन कर राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग बनाने का निर्णय किया। वह संशोधन 2014 में संसद ने किया। वह सर्वसम्मत था। जो संविधान का 99वाँ संशोधन था। जिसे सुप्रीम कोर्ट ने 16.10.2015 को अपने एक आदेश से अभिखंडित कर दिया।[14] यानी असंवैधानिक ठहरा दिया। इसे अब चौथे जजेज मामले की संज्ञा मिल गई है। लेकिन एक फर्क भी है। यह बड़ा फर्क है। राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग संविधान का अंग बन गया है। सुप्रीम कोर्ट के आदेश से उसका गठन रुका हुआ है। ऐसा भी नहीं है कि प्रधानमत्री नरेंद्र मोदी की सरकार ने राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को बिना विचारे लाया हो। याद करें, न्यायमूर्ति एम.एन. वैंकटचेलैया आयोग ने कोलेजियम के स्थान पर राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग की सिफारिश की थी। उस आयोग ने पाँच साल की गहन छानबीन के बाद संविधान संबंधी अपनी रिपोर्ट 2003 में दी थी।

सुप्रीम कोर्ट के इस निर्णय की तीखी आलोचना पूर्व केंद्रीय गृहमंत्री और जाने-माने वकील पी. चिदंबरम ने भी की थी। इसे उन्होंने 'कठिन समय, कठोर बातें' शीर्षक के अपने लेख में पुनः याद दिलाया।[15] रविशंकर प्रसाद का मत है, "मूल संरचना के सिद्धांत का ऐसा प्रयोग चिंताजनक है।"[16] प्रश्न है, सुप्रीम कोर्ट का यह रवैया क्यों चिंताजनक है? इसका एक उत्तर पारदर्शिता के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। दूसरे का संबंध संसद के अधिकार सीमा से है। अपूर्वा विश्वनाथ ने पारदर्शिता के प्रश्न पर इस तरह लिखा है, "आज मूल संरचना के सिद्धांत की ज्यादातर आलोचना इसलिए हो रही है क्योंकि अनिर्वाचित जजों ने यह आदेश देना शुरू किया है कि संविधान का कौन सा हिस्सा संरक्षित किया जाना चाहिए जबकि वे अपनी नियुक्ति स्वयं करते हैं।"[17] स्पष्ट है कि सुप्रीम कोर्ट नियुक्तियों के मामले में पारदर्शिता से बहुत दूर है। उसे पारदर्शिता की राह चुननी चाहिए, नहीं तो आलोचना होगी और उससे रामचरित मानस की एक लाइन जन-जन को याद आती रहेगी, 'महिमा घटी समुद्र की...।'

एक बड़ा और गंभीर प्रश्न यह भी है कि संविधान में संशोधन और सामाजिक -राजनैतिक-सांस्कृतिक-आर्थिक सुधार का विषय किसका है? क्या यह काम सुप्रीम कोर्ट का है? इसका उत्तर है, यह संसद के कार्यवृत्त में आता है। इसे उपराष्ट्रपति जगदीप धनखड़ ने राज्यसभा में एक बड़ी लकीर खींचकर बताया। वह समय भी कुछ खास था। उपराष्ट्रपति पद पर वे पहले ही चुने जा चुके थे। लेकिन 7 दिसंबर, 2022 को वे राज्यसभा के सभापति का पद ग्रहण कर रहे थे। उसी मौके पर उन्होंने सदन को अपने पहले संबोधन में बताया कि राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को सुप्रीम कोर्ट ने रद्द कर दिया था। "इसका रद्द होना संसदीय संप्रभुता से गंभीर समझौता है।"[18] यह उनका स्पष्ट मत था। वे इसका कारण बताते हैं। "संसद के अभूतपूर्व समर्थन और सदस्यों की सर्वसम्मति से पारित कोई विधेयक संविधान के मूलभूत सिद्धांतों के विरुद्ध कैसे हो सकता है। लोकतंत्र में संसद की सर्वोच्चता है, लेकिन अचरज की बात यह है कि सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले के सात वर्षों बाद भी संसद के भीतर कोई चर्चा नहीं की गई।"[19]

इस महत्त्वपूर्ण विषय को लोग भूल चुके थे। उपराष्ट्रपति जगदीप धनकड़ ने याद दिला दिया। राज्यसभा में उन्होंने उल्लेख बाद में किया। उससे कुछ दिन पहले भी वे इसे एक सही मंच पर उठा चुके थे। जहाँ चीफ जस्टिस डीवाई चंद्रचूड़ भी उपस्थित थे। वह मंच था, लक्ष्मीमल सिंघवी स्मृति व्याख्यान का।[20] वास्तव में, उससे भी पहले केंद्रीय कानून मंत्री किरण रिजिजू ने अहमदाबाद, उदयपुर और दिल्ली के विभिन्न मंचों पर जजों की नियुक्ति प्रणाली पर कुछ गंभीर प्रश्न उठाए थे। वे इस प्रकार हैं- एक, कोलेजियम प्रणाली संविधान की व्यवस्थाओं के विरुद्ध है क्योंकि जजों की नियुक्ति जजों का नहीं, सरकार का काम है। कुछ जज ही जजों की नियुक्ति करें, ऐसा दुनिया में कहीं और नहीं हैं। दो, कोलेजियम प्रणाली के कारण जजों में एक द्वंद बना रहता है। जिसका प्रभाव उनके फैसले पर होता है, क्योंकि वे ज्यादा ध्यान इस बात पर लगाते हैं कि कौन जज बने। इस कारण जजों में गुटबाजी होती है और नियुक्तियों में देरी होती है। तीन, इस प्रणाली में भाई-भतीजावाद है क्योंकि ज्यादातर जज अपने रिश्तेदारों और जान-पहचान वालों की ही सिफारिश जज बनाने के लिए करते हैं। चार, कोलेजियम प्रणाली आने से पहले यानी 1993 से पहले जो व्यवस्था थी, उससे बेहतर जज बन रहे थे और विवाद भी कम होता था।

एक बड़ा और गंभीर प्रश्न यह भी है कि संविधान में संशोधन और सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक-आर्थिक सुधार का विषय किसका है? क्या यह काम सुप्रीम कोर्ट का है? इसका उत्तर है, यह संसद के कार्यवृत्त में आता है। इसे उपराष्ट्रपति जगदीप धनखड़ ने राज्यसभा में एक बड़ी लकीर खींचकर बताया। वह समय भी कुछ खास था। उपराष्ट्रपति पद पर वे पहले ही चुने जा चुके थे। लेकिन 7 दिसंबर, 2022 को वे राज्यसभा के सभापति का पद ग्रहण कर रहे थे। उसी मौके पर उन्होंने सदन को अपने पहले संबोधन में बताया कि राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को सुप्रीम कोर्ट ने रद्द कर दिया था। "इसका रद्द होना संसदीय संप्रभुता से गंभीर समझौता है।" यह उनका स्पष्ट मत था

ऐसा संभव नहीं है कि कानून मंत्री किरण रिजिजू के बयानों पर सुप्रीम कोर्ट में कोई प्रतिक्रिया न हो। सुप्रीम कोर्ट ने अवसर पाते ही अपनी नाराजगी जाहिर की। कानून मंत्री के प्रश्नों से अपनी घोर असहमति जताई।[21] प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी में इस प्रश्न पर भी जमीन-आसमान का फर्क है। इंदिरा गांधी ने पी. शिवशंकर के जरिए सुप्रीम कोर्ट को डराया। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने सुप्रीम कोर्ट को अभय बनाया। इसके लिए कानून मंत्री का दायित्व अर्जुन राम मेघवाल को दिया। यह महज एक उदाहरण है। जजों की नियुक्ति का इतिहास 1919 से शुरू होता है। कोलेजियम से पहले जजों की नियुक्ति सरकार करती थी।

आज जो विवाद है, उसका समाधान क्या है? समाधान है भी या नहीं? कोई ऐसा विवाद नहीं हो सकता जिसका समाधान न हो। जरूरी है इसके लिए संवाद। जहाँ पेंच फँसा है, वह दो शब्दों की परिभाषा में छिपा हुआ है, परामर्श या सहमति। संविधान का दिशानिर्देश स्पष्ट है। वह परामर्श की व्यवस्था देता है। सुप्रीम कोर्ट सहमति की पक्षधर है। अब सहमति ने सुप्रीम कोर्ट के वीटो पावर का रूप ले लिया है। इसलिए वह कोलेजियम प्रणाली पर अड़ा हुआ है। लेकिन इससे अनेक संवैधानिक विकृतियाँ पैदा हुई हैं। सुप्रीम कोर्ट के एडवोकेट नितिन मेश्राम ने ऐसी छह विकृतियों का अपने एक पर्चे में उल्लेख किया है। उनका पर्चा है, "हाउ टू अनडू कोलेजियम।" उन्होंने इन विकृतियों को दूर करने के लिए सुझाया है कि "भारत सरकार को संविधान में जो मूल व्यवस्था थी, उसे पुनः बहाल करना चाहिए। इससे राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री से सलाह लेने की प्रक्रिया पुनः स्थापित होगी। प्रधानमंत्री का संवैधानिक अधिकार है कि वे राष्ट्रपति की सहायता करें और उन्हें परामर्श दें।"[22]

यह एक तथ्य है कि कोलेजियम प्रणाली संविधान से नहीं निकली है। इसके लिए संसद ने कोई कानून नहीं बनाया। इसे सुप्रीम कोर्ट ने बनाया। जिसमें सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस और चार अन्य सीनियर जज रहते हैं। इस प्रकार यह पाँच सदस्यीय समूह है। सीनियर एडवोकेट रवींद्र श्रीवास्तव का मत है कि "राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का माडल बढ़िया था। इसमें विविधता थी।"[23] यह अतीत की बात हो गई। भविष्य में समाधान संभव है। दूसरा राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग बनाने पर सरकार और सुप्रीम कोर्ट में संवाद हो और एक सहमति बने। जिसे संसद पारित करे।

संदर्भ

1. *भारत का संविधान*, 2021, भारत सरकार-विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, अध्याय-4-संघ की न्यायपलिका, अनुच्छेद-124, पृ.57-59
2. *संविधान सभा के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट*, (हिन्दी संस्करण) पुस्तक संख्या-5, खंड-8(क), 16 मई, 1949 से 31 मई, 1949, पृ. 356 से 426
3. वही, पृ. 413
4. *भारत का संविधान*, 2021, भारत सरकार-विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, (भाग 5-संघ) मंत्रिपरिषद अनुच्छेद-74, पृ. 34
5. *जनसत्ता दैनिक*, सुप्रीम कोर्ट ने सूचीबद्ध करने से किया इनकार, कोलेजियम के खिलाफ याचिका ठुकराई, पृ. 8, दिनांक 30.4.2024
6. वही, पृ. 8
7. द *आइडियाज पेज*, डिमोक्रेसी'एस सेंटिनल, दी इंडियन एक्सप्रेस, 24 अप्रैल, 2023, अरविंद पी दातार
8. *इंडियन एक्सप्रेस* के संपादकीय पेज पर, सेफगार्डिंग कांस्टीट्यूशन, 24 अप्रैल, 2023, उपेंद्र बक्सी
9. *ए टाक आन द एब्यूज ऑफ द कांस्टीट्युशन ड्युरिंग दी इमरजेंसी* विषय पर यंग लायर्स फार डिमोक्रेसी के मंच पर व्याख्यान, तुषार मेहता, भारत के सॉलिसिटर जनरल, 26 जून, 2023
10. *भारत का संविधान*, माधव खोसला, अध्याय-4, संविधान में बदलाव, पृ. 132
11. *ए टाक आन दी एब्यूज ऑफ दी कांस्टीट्युशन ड्युरिंग दी इमरजेंसी* विषय पर यंग लायर्स फार डिमोक्रेसी के मंच पर व्याख्यान, तुषार मेहता, भारत के सॉलिसिटर जनरल, 26 जून, 2023
12. हिस्ट्री हेडलाइन, फ्राम बेसिक स्ट्रक्चर टू कोलेजियमः ए शेयर्ड थ्रेड, अपूर्वा विश्वनाथ, *इंडियन एक्सप्रेस*, 7 जुलाई, 2023
13. *हमारा संविधान, एक पुनरावलोकन*, संपादक-रामबहादुर रायः डा. महेश चंद्र शर्मा, संवैधानिक लोकतंत्र और मूलभूत ढाँचे की अवधारणा, पूर्व कानून मंत्री रविशंकर प्रसाद, पृ. 50
14. *भारत का संविधान*, 2021, भारत सरकार-विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, अध्याय-4, संघ की न्यायपालिका, पृ.-57
15. *दूसरी नजर, कठिन समय, कठोर बातें;* पी चिदंबरम, जनसत्ता, 4 दिसंबर, 2022
16. *हमारा संविधान*, एक पुनरावलोकन, संपादक-रामबहादुर रायः डा. महेश चंद्र शर्मा, संवैधानिक लोकतंत्र और मूलभूत ढांचे की अवधारणा, पूर्व कानून मंत्री रविशंकर प्रसाद, पृ.-54
17. *हिस्ट्री हेडलाइन*, फ्राम बेसिक स्ट्रक्चर टू कोलेजियमः ए शेयर्ड थ्रेड, अपूर्वा विश्वनाथ, इंडियन एक्सप्रेस, 7 जुलाई, 2023
18. एनजेएसी का सुप्रीम कोर्ट से रद होना संसदीय संप्रभुता से गंभीर समझौता, उपराष्ट्रपति जगदीप धनकड़, *दैनिक जागरण*, 8 दिसंबर, 2022
19. वही
20. न्यायिक नियुक्ति आयोग अधिनियम पर संसद में कोई चर्चा न होने से अचंभित, उपराष्ट्रपति जगदीप धनकड़, *जनसत्ता*, 4 दिसंबर, 2022
21. कानून मंत्री के बयान पर सुप्रीम कोर्ट बोला, कोलेजियम पर ऐसा नहीं कहना चाहिए था, *नवभारत टाइम्स*, दिनांक, 29 नवंबर, 2022 विशेष- 29 नवंबर, 2022 के टाइम्स ऑफ इंडिया और इंडियन एक्सप्रेस में भी सुप्रीम कोर्ट की प्रतिक्रिया छपी।
22. *हाउ टू अनडू कोलेजियम*, नितिन मेश्राम, 6 दिसंबर, 2022
23. टू पिक जजेज, गो बैक टू दी कांस्टीट्युशनल आइडिया, *टाइम्स ऑफ इंडिया*, 30 नवंबर, 2022

विवाह कानून एवं उसकी पवित्रता की चुनौतियाँ

डॉ. सीमा सिंह

विनायक शर्मा

विवाह एक प्राचीनतम सामाजिक संस्था है, जो एक ऐसे आधार की रचना करती है जिस पर सभ्यता की संपूर्ण संरचना का निर्माण होता है। एक आलोचनात्मक अध्ययन

पश्चिमी समाजों में व्यक्ति को मूल इकाई माना जाता है, इसके विपरीत भारतीय परंपरा में परिवार को समाज की मूल इकाई माना जाता है। रुक्मिणी बाई राठौर बनाम सीडब्ल्यूटी (1964) में, न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि संयुक्त हिंदू परिवार की स्थिति सामान्यतः जन्म से रक्त संबंधों या दत्तक ग्रहण अथवा विवाह संबंधों का परिणाम है। इस प्रकार, विवाह एक ओर समाज की निरंतरता बनाए रखता है, तो दूसरी ओर उसके आधार स्तंभ का कार्य करता है। भारतीय समाज के आरम्भ से ही विवाह धर्मशास्त्रों में निर्धारित विभिन्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कारों में से एक है, जिसका पालन हर व्यक्ति को करना है। पति और पत्नी के बीच विवाह को आपसी दायित्वों के निर्वहन के लिए एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता था। अपनी स्मृति में अध्याय 9 में, मनु ने स्त्रीपुंधर्मह की अवधारणा दी है, जिसमें सम्बन्ध की पवित्रता बनाए रखने के लिए पति और पत्नी के कर्तव्यों का उल्लेख है। किंतु, समाज के बदलते स्वरूप के साथ, आधुनिक कानूनी विमर्श में इस बात को लेकर एक द्वंद्व छिड़ गया है कि हिंदू विवाह संस्कार है अथवा नागरिक अनुबंध। प्रस्तुत शोध पत्र में वेदों, धर्मशास्त्रों, अन्य प्राचीन भारतीय ग्रंथों, कानून और न्यायिक निर्णयों जैसे प्राथमिक स्रोतों की सहायता से इस द्वंद्व के समाधान का प्रयास किया गया है। इसमें विवाह की गरिमा को कमजोर करने वाली समस्याओं और मामलों पर भी चर्चा की गई है। वहीं, इसमें विवाह की पवित्रता को बनाए रखने के लिए सुझाव भी दिये गए हैं।

मुख्य शब्द : हिंदू विवाह, प्रथा, संस्कार, धर्म, सप्तपदी, पति व पत्नी

परिचय

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।[1]

ऋग्वेद के इस मंत्र में एक आदर्श वैवाहिक जीवन, अथवा *गृहस्थ-आश्रम* की विशेषता का वर्णन है। इसमें कहा गया है, "हे पति और पत्नी! आप यहीं साथ रहें; अलग न हों। अपनी पूर्ण आयु का भोग करें। अपने घर में अपने बच्चों और पोते-पोतियों के साथ खेलते हुए, प्रसन्न रहें।"

विवाह मानव अस्तित्व की एक अति महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य संस्था है। यह समाज निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वैवाहिक जीवन समाज का एक अनिवार्य घटक है, क्योंकि समाज मूलतः लोगों का एक प्रतिरूप है। यह हमारे विवाह संबंधों का एक अखंड सिलसिला या विस्तार है। समाज में व्यक्ति की संवृद्धि और विकास होता है। विवाह एक सामाजिक संस्था है, जो विश्व के हर क्षेत्र में व्याप्त है। विवाह विश्व के हर समाज में, वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, ग्रामीण हो या शहरी, किसी न किसी रूप में विद्यमान है। *सुप्रिया चक्रवर्ती बनाम भारत संघ*[2] मामले में जे. भट्ट ने बहुमत के लिए स्पष्ट शब्दों में लिखा :

"*ऐतिहासिक और कालक्रमिक दृष्टिकोण से विवाह सभी अर्थों में विद्यमान रहा और आज भी है, क्योंकि लोगों ने विवाह राज्य की अवधारणा के उदय से पहले किया। इसलिए, एक संस्था के रूप में विवाह राज्य की स्थापना से पहले से कायम है, यानी विवाह पहले आया और राज्य बाद में।*"

तात्पर्य यह कि विवाह की संस्था, सर्वाधिक पुरानी सामाजिक संस्था, राज्य से स्वतंत्र है, और इसके आधार पर सभ्यता व सफलता की संपूर्ण संरचना का निर्माण होता है।

ई. वेस्टर्मार्क के शब्दों में, "*विवाह एक या एक से अधिक पुरुषों का एक या एक से अधिक महिलाओं से संबंध है जिसे परंपराओं या कानूनों से मान्यता प्राप्त है और और इसमें पति व पत्नी तथा उनके संबंध से उत्पन्न बच्चों के प्रति कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं।*"[3] विवाह के माध्यम से ही व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन के दायित्वों को पूरा और इस विश्व के गतिशील क्रम को सुव्यवस्थित करता है। विवाह एक बंधन है, जिसमें समाज एक पुरुष और एक महिला को उनके शेष जीवनपर्यंत परिवारिक जीवन जीने के लिए स्वीकार करता है। विवाह एक संस्था है, जिसमें दो लोग विधिवत एक-दूसरे से बंध जाते हैं और समाज की आधारशिला रखते हैं, और इस प्रकार एक परिवार का निर्माण करते हैं, और हिंदू विवाह *गृहस्थाश्रम* का प्रवेशद्वार है। वे अपने दायित्वों का निर्वहन करते हैं। इस क्रम में कई बंधन जन्म लेते है, जिनका स्थान के अनुरूप नियमन किया जाता है। इस प्रकार, वैवाहिक अनुष्ठान का आरंभ व्यक्ति के अपने कर्तव्यों का पालन और अपने अधिकारों का क्रमबद्ध तरीके से उपयोग और एक नियंत्रित, नियमबद्ध तथा सुसंस्कृत समाज का निर्माण करते हुए जीवन को सभ्य और गरिमामय बनाए रखने का परिणाम है।

विवाह के माध्यम से, व्यक्ति *गृहस्थाश्रम* में कदम रखता है और *धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष* के चार लक्ष्यों को हासिल करने का प्रयास करता है। प्रत्येक समाज में जीवनसाथी अथवा पति या पत्नी प्राप्त करने के कुछ विधिसम्मत तरीके होते हैं, जिन्हें सामाज की स्वीकृति भी मिलती है। हिंदुओं के बीच, विवाह को एक *धार्मिक* संस्कार माना जाता है, और इसे धार्मिक मानने का प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त, हिंदुओं में प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋणों से मुक्ति का बोझ होता है : पितृ ऋण, देव ऋण, और ऋषि ऋण। पूर्वजों के ऋण से मुक्ति के लिए विवाह कर संतान उत्पन्न करना आवश्यक है। हिंदू आस्था के अनुसार, मनु ने काम संबंधों के उचित नियंत्रण और इहलोक तथा परलोक में सुख के लिए विवाह को आवश्यक माना है। इस संदर्भ में व्यास स्मृति का उल्लेख आवश्यक है। इस संबंध में, गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम मानते हुए कहा गया है कि गृहस्थाश्रम का समुचित ढंग से पालन करने वाले व्यक्ति को घर पर रहते हुए भी कुरुक्षेत्र, बद्रीनाथ, केदारनाथ, हरिद्वार आदि जैसे तीर्थ स्थलों के दर्शन का पुण्य प्राप्त होता है।

जब विवाह को एक संस्कार माना जाता था, तब उसके आठ अलग-अलग रूप थे, जैसा कि मनुस्मृति में उल्लेख है।[4] *ब्रह्म, दैव, आर्ष* और *प्रजापत्य मान्य जबकि गंधर्व, असुर, राक्षस* और *पिशाच* (सबसे निम्न) अमान्य थे। प्रत्येक रूप वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने के एक अलग तरीके का प्रतीक था, जिसमें धार्मिक समारोहों की वैधता में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। आज भी, विवाह का ब्रह्म रूप प्रचलित है।

संस्कृत में हिंदू विवाह को *पाणिग्रहण, कल्याण, उद्वाह, विवाह, परिणय अथवा परिणयन,* और *उपयम* के अलग-अलग नामों से अभिहित किया गया है। विवाह धार्मिक अनुष्ठानों और वैदिक मंत्रोच्चार के साथ संपन्न किया जाता है। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में विवाह का आरंभ से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योंकि इसे वैदिक युग से ही एक धार्मिक कार्य माना गया है। '*ऋग्वेद*' में कहा गया है कि विवाह का प्रयोजन गृहस्थ बनना, यज्ञ अनुष्ठान और संतान उत्पन्न करना है। पश्चिमी विचारकों ने काम तुष्टि को विवाह का मुख्य उद्देश्य माना है, किंतु हिंदू विवाह का मुख्य उद्देश्य धर्म का पालन करना है।

भारतीय कानूनी विमर्श में निश्चयात्मकता के आविर्भावा से पहले, हिंदू विवाह को पूरी तरह से एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में देखा जाता था, जिसमें यह मान्यता थी कि पति और पत्नी के बीच का संबंध अटूट और शाश्वत है। उपनिवेशीकरण, शहरीकरण, व्यक्तिवाद, अधिकार-कानून विमर्श, तलाक के मामलों में वृद्धि आदि के कारण भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तनों के साथ, संस्कार के रूप में हिंदू विवाह की इस अवधारणा में बदलाव आया।

विवाह को नियमबद्ध करने के लिए राज्य ने कानून बनाए, जिनमें विवाह विच्छेद को लेकर बना पहला राज्य कानून सन् 1919 का कोल्हापुर तलाक अधिनियम शामिल है। आगे चलकर, सन् 1955 का हिंदू विवाह अधिनियम बना, जो सभी हिंदुओं पर लागू पहला केंद्रीय कानून है। ये अधिनियम हिंदू विवाह की व्याख्या पवित्र संस्कार और अनुबंध दोनों रूपों में करते हैं। किंतु, हिंदू विवाह मूलत: संस्कार है या अनुबंध इस बात को लेकर उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय के बीच कोई सहमति नहीं है।

हिंदू विवाह - एक *संस्कार*

परंपराओं, रीति-रिवाजों और मूल्यों को भारतीय समाज में विशेष स्थान दिया गया है। इस तथ्य की झलक भारतीय संस्कृति में संस्कारों की एक सुव्यवस्थित श्रृंखला में

स्पष्ट दिखाई देता है, और यही कारण है कि भारतीय संस्कृति को विश्व में एक विशेष स्थान प्राप्त है। भारतीय ग्रंथों में मानवजाति के प्रत्येक पक्ष को मृत्युपर्यंत किसी न किसी रूप में कुछ संस्कारों से जोड़ा गया है। परिस्थिति और समय के अनुरूप इनका स्वरूप निश्चय ही बदलता है, किंतु ये निर्बाध चलते रहते हैं। ऐसे में हम यह सोचने पर विवश हो जाते हैं कि यह संस्कार क्या है और इसका विकास मुख्य रूप से भारत में ही क्यों हुआ।

संस्कार शब्द का अर्थ शुद्धीकरण है। संस्कार किसी व्यक्ति के अंतर्मन को बौद्धिक व नैतिक स्तर पर उठाकर उदात्त स्थिति तक ले जाता और उसके बाह्य मन को हिंदू समुदाय के धार्मिक जीवन में पूरी तरह से लीन होने के योग्य बनाता है। ये संस्कार किसी व्यक्ति की आंतरिक और बाह्य पवित्रता के साथ-साथ उसकी शुचिता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। संस्कार वे आनुष्ठानिक पद्धतियां हैं जो किसी हिंदू के जीवन को अलग-अलग चरणों में पवित्र और परिष्कृत करती हैं। संस्कार शरीर, मन और बुद्धि का परिष्कार करने की क्षमता रखते हैं, जिनकी बदौलत कोई व्यक्ति समुदाय का एक संपूर्ण और अविभाज्य सदस्य बन सकता है। आर. एन. सक्सेना के अनुसार, "*संस्कार का तात्पर्य उन अनुष्ठानों से है, जो मानव जीवन की क्षमताओं को उजागर करते हैं, जो मनुष्य को सामाजिक जीवन के योग्य बनने के गुण प्रदान करते हैं, और जिनके बल पर किसी व्यक्ति को समाज में एक विशेष दर्जा मिलता है।*"

भारत और हिन्दू धर्म में ही संस्कारों का विकास क्यों हुआ, इसका कारण है और वह यह कि हर राष्ट्र के अपने निश्चित नियम, व्यवस्थाएँ, अनुशासन, रीति-रिवाज और परम्पराएँ थीं। हिन्दू धर्म में सोलह प्रमुख संस्कारों की अवधारणा है, जिनमें विवाह संस्कार को मुख्य और विशेष स्थान दिया गया है।

व्यास स्मृति में संस्कार के विभिन्न प्रकार
गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, विवाहाग्नि परिग्रह, त्रेताग्नि संग्रह

संस्कार शब्द का अर्थ शुद्धीकरण है। संस्कार किसी व्यक्ति के अंतर्मन को बौद्धिक व नैतिक स्तर पर उठाकर उदात्त स्थिति तक ले जाता और उसके बाह्य मन को हिंदू समुदाय के धार्मिक जीवन में पूरी तरह से लीन होने के योग्य बनाता है। ये संस्कार किसी व्यक्ति की आंतरिक और बाह्य पवित्रता के साथ-साथ उसकी शुचिता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। संस्कार वे आनुष्ठानिक पद्धतियां हैं जो किसी हिंदू के जीवन को अलग-अलग चरणों में पवित्र और परिष्कृत करती हैं। संस्कार शरीर, मन और बुद्धि का परिष्कार करने की क्षमता रखते हैं, जिनकी बदौलत कोई व्यक्ति समुदाय का एक संपूर्ण और अविभाज्य सदस्य बन सकता है

पी.एच. प्रभु के शब्दों में, "*हिंदू के लिए विवाह एक संस्कार है, और इसलिए विवाह से संबद्ध पक्षों का संबंध किसी अनुबंध के स्वरूप का नहीं बल्कि एक संस्कार के स्वरूप का होता है।*"[5] इस संबंध में के. एम. कापड़िया के अनुसार, "*हिंदू विवाह एक संस्कार है। इसे पवित्र इसलिए माना जाता है क्योंकि यह तभी पूरा होता है जब इसका संपादन पवित्र मंत्रों के उच्चारण से किया जाता है।*"[6]

मजूमदार और मदन के अनुसार, किसी हिंदू के लिए विवाह परमावश्यक है, क्योंकि पत्नी के बिना वह *गृहस्थाश्रम* में प्रवेश नहीं कर सकता, जो शास्त्रों में निर्धारित आश्रम धर्म का दूसरा चरण है। हिंदू धर्म में विवाह का एक विशेष स्थान है, यही कारण है कि इसे भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है, और अन्य संस्कार इसी के इर्द-गिर्द घूमते हैं। भारतीय संस्कृति धर्म पर आधारित है, और धर्म की रक्षा केवल विवाह के माध्यम से ही हो सकती है। इसीलिए विवाह के भौतिकीकरण में ये सारे संस्कार सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं ताकि लोग इसके महत्व को स्वीकार करें और धर्म का पालन करें। हिंदू धर्म में, विवाह सामाजिक बंधनों को जोड़ने का माध्यम है और समाज में प्रेम और सामंजस्य का आधार प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त, हिंदू धर्म विवाह के आदर्श रूप का भी प्रतिपादन करता है क्योंकि गृहस्थ जीवन का आरंभ विवाह से ही माना जाता है। इसका कारण यह है कि हिंदू समाज में पत्नी के बिना कोई धार्मिक कार्य संभव नहीं है; इसलिए, पत्नी को अर्धांगिनी कहा जाता है, और अविवाहित पुरुष को अशुद्ध माना जाता है। विवाह गृहस्थ जीवन का मूल है और सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर निर्भर हैं।

'हिंदू विवाह एक संस्कार है' इस कथन को निम्नलिखित आधारों पर उचित ठहराया जा सकता है।

विवाह के उद्देश्य : यदि उद्देश्यों के आधार पर हिंदू विवाह का मूल्यांकन किया जाए, तो इसे निश्चय ही एक संस्कार कहा जा सकता है। पी.एच. प्रभु के अनुसार हिंदू विवाह के तीन मुख्य उद्देश्य हैं : (क) धर्म, (ख) प्रजा (संतान), और (ग) रति (काम सुख)।

(क) धर्म : धर्म का पालन करना हिंदू विवाह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। विवाह को अनिवार्य और आवश्यक माना जाता है। सभी धार्मिक कर्तव्यों के निर्वहन में पति और पत्नी का एक साथ भाग लेना आवश्यक है। वेदों में उल्लेख है कि पति को अपनी पत्नी के साथ अपने धर्म का पालन करना चाहिए। ग्रन्थ 'सतपथ ब्राह्मण' के अनुसार, "*पत्नी पति का आधा अंग है।*" यानी अर्धांगिनी। इसलिए, व्यक्ति को विभिन्न यज्ञों और उनसे संबद्ध धार्मिक अनुष्ठानों (कन्यादान, होम, पाणिग्रहण, और सप्तपदी) को पूरा करने के योग्य बनाना विवाह का पहला लक्ष्य है। पंच महायज्ञ (*ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ,* और *मनुष्ययज्ञ*) का पालन करना परमावश्यक है, और यज्ञ कोई

विवाहित व्यक्ति ही कर सकता है। पत्नी के बिना, अविवाहित व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता। विवाह एकमात्र माध्यम है जिसके उपरांत ही कोई व्यक्ति देवताओं, ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों और सभी जीवों के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन कर सकता है। यह स्पष्ट है कि धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए विवाह के माध्यम से पत्नी का होना आवश्यक है। के. एम. कापड़िया का मानना है कि हिंदू विचारकों ने धर्म को विवाह का पहला और सर्वोपरि लक्ष्य माना और प्रजनन को उसके बाद स्थान दिया, ऐसे में यह स्वाभाविक है कि धर्म विवाह पर हावी हो जाता है। समाज में व्यवस्था बनाए रखने और नैतिकता की रक्षा के लिए विवाह का यह उद्देश्य अति महत्त्वपूर्ण है।

(ख) प्रजा (सन्तान) : पूर्वजों के ऋण से मुक्ति विवाह का दूसरा उद्देश्य है। हिंदुओं में, प्रत्येक व्यक्ति को तीन प्रकार के ऋणों का भुगतान करना होता है : (1) *देव ऋण,* (2) *ऋषि ऋण,* और (3) *पितृ ऋण*। पितृ ऋण से मुक्ति के लिए पिता की वंश परंपरा को आगे बढ़ाना अनिवार्य है; अर्थात, पुत्र आवश्यक है। इसका कारण यह है कि मोक्ष केवल पुत्र ही दिला सकता है। जब तक पुत्र अपने पूर्वजों का तर्पण और पिंड दान नहीं करता, तब तक उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार, पितृ यज्ञ को पूरा करने और पितृ ऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र का जन्म आवश्यक माना जाता है। मनु संहिता के अनुसार पिता को पुनर्जन्म से मोक्ष तभी मिल सकता है जब उसका पुत्र पिंड दान करे। इसलिए हिंदू विवाह में सफल होने और पुत्रों की प्राप्ति पर जोर दिया गया है। क्योंकि पुत्र विभिन्न अनुष्ठानों और धार्मिक कार्यों का पालन करता है। इसके अतिरिक्त, पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर, वर कन्या से मंत्रों के माध्यम से कहता है, "*मैं अच्छी संतान की प्राप्ति के लिए तुमसे विवाह संबंध स्थापित कर रहा हूँ।*" विवाह में सफल और दीर्घायु पुत्रों के जन्म पर विशेष जोर दिया गया है, क्योंकि केवल इन गुणों वाले बच्चे ही इहलोक और परलोक में सुख-शांति ला सकते हैं। संतान (पुत्र) के जन्म से ही वंश और समाज की स्थापना होती है। ऋग्वेद में पुत्रों की कामना का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। कदाचित्, परिवार और समाज की निरंतरता को ध्यान में रखते हुए, हिंदू शास्त्रों में विवाह के इस लक्ष्य को इतना महत्व दिया गया है।

(ग) रति (काम सुख) : विवाह का अंतिम उद्देश्य काम सुख की पूर्ति है, जिसे शास्त्रों में अन्य उद्देश्यों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण माना गया है। रति का अर्थ समाज स्वीकृत तरीके से अपनी काम इच्छाओं की तुष्टि करना है। काम सुख की तुष्टि को उपनिषदों में सर्वोपरि आनंद के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। हिंदू धर्मशास्त्र में, जहां काम इच्छाओं की संतोषजनक पूर्ति को आवश्यक माना गया है, वहीं यह नियम भी दिय गया है कि व्यक्ति केवल अपनी पत्नी से यौन संबंध बना सकता है, और वह भी एक अच्छी संतान के जन्म के लिए। इस तरह, विवाह में यौन संबंधों का उद्देश्य प्रखर संतानों की प्राप्ति है; उद्देश्यों में इसका स्थान तीसरा है।

(2) उदात्त धार्मिक आदर्श : उदात्त धार्मिक आदर्शों के दृष्टिकोण से, हिंदुओं के कई ऐसे आदर्श हैं जिन्हें लोग अपने जीवन में अपना कर उनका पालन करते हैं। हिंदू विवाह के अंतर्गत, पति और पत्नी के बीच का संबंध जन्म जन्माँतर तक अटूट और स्थायी माना जाता है।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवः।
तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः।।

"महिलाओं का सृजन जननी और पुरुषों का जनक होने के लिए किया गया; इसीलिए, वेदों में धार्मिक अनुष्ठानों का निर्धारण किया गया है, जिनका पालन पति को अपनी पत्नी के साथ करना है।"

एक धार्मिक संस्कार के रूप में हिंदू विवाह का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। विवाह के पवित्र बंधन में बंधे स्त्री-पुरुषों को केवल मृत्यु ही एक दूसरे से अलग कर सकती है। इतिहास के विभिन्न कालों में, वैदिक युग से टीकाकारों और लेखक-लेखिकाओं के युग तक, पत्नी का महत्व अहम और वैवाहिक संबंध प्रगाढ़ रहा है। हिंदुओं में महिलाओं को अर्धांगिनी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे विवाह के बाद ही अपने पति के साथ पूर्ण मानी जाती हैं।

ऋग्वेद की एक ऋचा[8] से ज्ञात होता है कि कोई पुरुष परिवार के प्रति अपने दायित्वों यानी 'गार्हपत्य' का निर्वहन करने के उद्देश्य से किसी स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करता था।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या
जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं
त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।

"मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्य के लिए तुम्हारा हाथ पकड़ता हूं, ताकि तुम मेरे, यानी अपने पति के साथ रहती हुई दीर्घजीवन का उपभोग करो। भाग्यमति, अर्यमा, सविता, पुरन्धि्र आदि सभी दिव्य विभूतियों ने तुम्हें इसलिए मुझे सौंपा है कि मैं गृहस्थ धर्म, यानी 'गार्हपत्य' का पालन कर सकूं।"

हिंदू विवाह समारोहों में इस ऋचा का पाठ[9] पारंपरिक रूप से होता आया है, जो देवी-देवताओं के वरदान के रूप में वैवाहिक जीवन के मिलन और दायित्वों का प्रतीक है।

जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता
हरयो वहन्तु।
यदा कदा च सुनवाम सोममग्निष्ट्वा दूतो
धन्वात्यच्छ।।

"जिस प्रकार दो उत्कृष्ट घोड़े, जो एक रथ को सहजता से खींचते हैं, रथ के स्वामी को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हैं, उसी प्रकार, परस्पर संतुष्ट और कुशलतापूर्वक शिक्षित दो व्यक्ति गृहस्थ जीवन को सुशोभित करते हैं।"

संबद्ध प्रसंग पर अपनी टीका में सायणाचार्य स्मृति साहित्य के एक वाक्य का उल्लेख करते हैं :

न गृहं गृहमित्याहु गृहणी गृहमुच्यते।
गृहं हि गृहिणीहीनं अरण्यं सदृशं मतं।।

"कोई घर वस्तुतः तब तक घर नहीं होता जब तक उसमें पत्नी न हो; यह पत्नी ही है जो घर को संपूर्ण बनाती है।" इस कथन में इस बात पर जोर दिया गया है कि घर को पूर्ण और शुभ बनाने के लिए पत्नी का होना आवश्यक है। पत्नी के वर्णन के लिए जिन शब्दों का उपयोग किया जाता है, उनके विशिष्ट अर्थों को समझने से

हमें परिवार और समाज में उसकी विभिन्न भूमिकाओं को बेहतर ढंग से समझने में सहायता मिलती है। उसे घर का केंद्रीय पात्र माना जाता था और उसे उसके घर की[10] साम्राज्ञी कहा जाता था। वह घर का ही[11] प्रतीक थी और उसे शुभ (*कल्याणी*)[12] और अति शुभ (*शिवतम*)[13] माना जाता था। वह सभी जीवों के लिए वरदान और समृद्धि लेकर आई, और यही वह वस्तु है जो वह अपने विवाह में लेकर आई, जिससे विवाह की अखंडता और बंधन पर कोई प्रश्न नहीं रह गया। पत्नी को जया, सखी, गृहिणी और सचिव कहा जाता था। उसे *गृहलक्ष्मी, साम्राज्ञी* और *अर्धांगिनी* भी कहा जाता था। कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के बिना यज्ञ नहीं कर सकता था, इसलिए उसे धर्मपत्नी कहा जाता था।

इसके अतिरिक्त, मनुस्मृति के इस श्लोक में कहा गया है :

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्।।[14]

"पति-पत्नी को निरंतर साथ रहने और अपनी परस्पर निष्ठा बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए, तथा यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वे एक-दूसरे से दूर न हों।"

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः।।[15]

"पति और पत्नी के बीच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह हो कि उनकी परस्पर निष्ठा अंतिम सांस तक बनी रहे।"

मनु के इन दो श्लोकों में हिंदू विवाह दर्शन के मूल सिद्धांतों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है, जिनका वर्तमान में कई जोड़ों पर गहरा प्रभाव है और आशा है कि कानूनी संशोधनों के बावजूद आने वाली पीढ़ियों पर इनका प्रभाव इसी प्रकार बना रहेगा। न्यायमूर्ति सरकारिया[16] ने एक उत्तम वैवाहिक संबंध के मूलभूत आधार के रूप में आपसी विश्वास के महत्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि तीन बुनियादी सिद्धांतों के आधार पर विवाह की स्थिरता बनाए रखी जाती है : परस्पर विश्वास, परस्पर सम्मान और सहानुभूतिपूर्ण समझ। इन सभी कारकों में विश्वास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि जॉर्ज मैकडॉनल्ड ने अपने कथन में जोर देते हुए कहा है, परस्पर विश्वास पसंद किए जाने से अधिक महत्त्वपूर्ण सम्मान है। विश्वास से विश्वास पैदा होता है, जबकि संदेह से संदेह का जन्म होता है।

ऋण से मुक्ति : व्यक्ति विवाह के माध्यम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और उसे गृहस्थाश्रम के सभी कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है। हिंदू धर्म में पांच यज्ञों का विधान किया गया है : (1) *देवयज्ञ*, (2) *ब्रह्मयज्ञ*, (3) *मनुष्ययज्ञ*, (4) *पितृयज्ञ*, और (5) *भूतयज्ञ*। इन यज्ञों के माध्यम से ऋणों से मुक्ति मिलती है। विवाह के बिना, संतानें वैध नहीं होंगी, और न ही पितृयज्ञ पूरा हो पाएगा।

विवाह के अनुष्ठान और समारोह : विवाह में कई प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान होते हैं। पी.वी. केन ने इन अनुष्ठानों की संख्या उनचालीस बताई है। विवाह में इन धार्मिक अनुष्ठानों को इतना महत्व दिया गया है कि इनके बिना विवाह पूरा नहीं हो सकता। विवाह के पूरा होने के लिए यह अनिवार्य है कि इन अनुष्ठानों या कार्यों का संपादन एक विशेष विधि से किया जाए।

पारस्कर गृह्य सूत्रों के अनुसार, विवाह में निम्नलिखित अनुष्ठान होते हैं।

पाकयज्ञः, विवाहे नक्षत्रविचारः, वर्णानुक्रमेण विवाहः, वस्त्रपरिधानं, कन्यादान विधानं, परस्परसमीक्षणं, आधारणविधिः, जयाहोमविधिः, अभ्यातानहोमविधिः, लाजाहोमविधिः, सांगुष्ठनपाणिग्रहणं, शिलारोहणं, गाथागानं, प्रदक्षिणाविधानं, सप्तपदिक्रमः, अभिषेचनं, सूर्यदर्शनं, हृदयालंभनम, अभिमंत्रणं, अनुगुप्तागार (कोहबर) गमनम्, ग्रामवचनं, (ग्रामवृद्धावचनानुसारेणलोकाचारः), दक्षिणा, ध्रुवदर्शनम, सिन्दूरदानम, ब्रह्मचर्यविधानम, नित्यहोमविधिः, नैमित्तिकहोमविधिः, वध्याभर्तृगृहे प्रथम गमने कर्म (प्रायश्चित्तः)।

कन्यादान (कन्यादान करते हुए कन्या के पिता कन्या को वर पक्ष को सौंपते हैं, जिसे वर पवित्र अग्नि के समक्ष ईश्वर को साक्षी मानकर स्वीकार करता है), विवाह होम (अग्नि के माध्यम से विवाह समारोह का दिव्य साक्ष्य और पुष्टि), *पाणिग्रहण*[17] (जीवनपर्यंत आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करने के ध्येय से वर का कन्या के हाथ को पकड़ना), *अग्नि-परिणयन*[18] (वर और कन्या परिणयन यज्ञ कुंड बनाते और एक गांठ बांधते हैं), अश्मारोहण (कन्या का भाई कन्या के पैरों को उठाकर एक पत्थर पर रखता है, यानी धार्मिक कार्य का दृढ़तापूर्वक पालन करना), और *सप्तपदी*[19] (वर और कन्या साथ-साथ सात कदम चलते हैं, मंडप में चलने के प्रतीक के रूप में प्रत्येक कदम पर एक-एक मुद्रा रखते हैं)। ये मुख्य अनुष्ठान हैं, जिनके बिना विवाह अधूरा होता है। इन अनुष्ठानों का संपादन पवित्र मंत्रों का उच्चारण करते हुए विधि-विधान के साथ किया जाता है।

हिंदू विवाह में *सप्तपदी* अनुष्ठान का बड़ा महत्व है। वर्ष 1955 के हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 7 में इस प्राचीन प्रथा को स्थान दिया गया है, जिसके अनुसार कन्या और वर के लिए पवित्र अग्नि के चारों ओर साथ-साथ सात कदम चलना अनिवार्य है। विवाह को कानूनी रूप से वैध मानने के लिए इस अनुष्ठान को पूरा करना आवश्यक है।

1. इष एकपदी भव (भोजन)
2. ऊर्जे द्विपदी भव (शक्ति)
3. रायस्पोषाय त्रिपदी भव (धन और समृद्धि)
4. मयो भाग्याय चतुष्पदी भव (सुख-साधन)
5. प्रजाभ्य पश्चपदी भव (सन्तति)
6. ऋतुभ्य षट्पदी भव (ऋतु विहार)
7. सखा सप्तपदी भव। सामामनुव्रत भव। पुत्रन्विन्दावहै। बहु स्ते सन्तु जरदष्टयः (मैत्री)

सातवां चरण कन्या के पत्नी में और वर के पति में परिवर्तन का प्रतीक है, जिसके अनुसार कन्या का गोत्र बदल कर उसके पति का गोत्र हो जाता है। इस अंतिम चरण के पूरा होने पर विवाह कानूनी रूप से पूर्ण हो जाता है, जिसका अर्थ है कि स्त्री अपने जन्म गोत्र को छोड़कर अपने पति के गोत्र का अंश बन जाती है।

विवाह अनुबंध क्यों नहीं है

भारतीय समाजों के विकास के साथ, समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विधायिका ने नए कानून बनाए। प्राचीन हिंदू कानून के अनुरूप, वर्ष 1955 में विधायिका ने विशेष रूप से हिंदू विवाह का नियमन करने के ध्येय से हिंदू विवाह अधिनियम लागू किया। अधिनियम की धारा 5 में विवाह की वैधता के लिए आवश्यक शर्तों का निर्धारण किया गया है। इसके अनुसार दो हिंदुओं में विवाह के लिए दोनों का अविवाहित होना अनिवार्य है। कोई भी पक्ष मानसिक अक्षमता के कारण वैध सहमति देने में असमर्थ न हो, वैध सहमति देने में सक्षम होते हुए भी उसे मानसिक विकार से ग्रस्त नहीं होना चाहिए, जो उसे विवाह और संतानोत्पत्ति के लिए अक्षम बनाए, उसे बार-बार मानसिक विकार के दौरे नहीं आते हों। वहीं यह शर्त भी रखी गई है कि विवाह के समय वर की आयु कम से कम इक्कीस वर्ष और कन्या की कम से कम अठारह वर्ष हो। इसके अतिरिक्त किसी का भी वर्जित संबंधों की सीमा के भीतर कोई संबंध तब तक नहीं होना चाहिए, जब तक कि उसके रीति-रिवाज इस तरह के संबंध की अनुमति न दें। सपिंडी विवाह अथवा संबंध दोनों पक्षों के लिए वर्जित है, जब तक कि उनके रीति-रिवाज इस तरह के विवाह की अनुमति न दें। धारा 29(2) सुनिश्चित करती है कि पारंपरिक विवाह वैध बने रहें। हिंदू विवाह में सप्तपदी अनुष्ठान का विशेष महत्व है। इस प्राचीन प्रथा को अधिनियम की धारा 7 में शामिल किया गया है, जिसके अनुसार कन्या और वर के लिए पवित्र अग्नि के चारों ओर साथ-साथ सात कदम चलना अनिवार्य है। विवाह को विधिक स्तर पर वैध ठहराने के लिए इस अनुष्ठान को पूरा करना अनिवार्य है। अधिनियम में पहली बार तलाक की अवधारणा को भी स्थान दिया गया, जिसका उद्देश्य विवाह कानून में सुधार और एकरूपता लाना था। किंतु, अमान्य विवाह, धोखाधड़ी से प्राप्त सहमति, और तलाक जैसे तत्वों के कारण हिंदू विवाह को एक अनुबंध के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है।

मेन और पारस दीवान का मानना है कि हिंदू विवाह का स्वरूप धार्मिक और संविदात्मक दोनों है। एक अवधारणा यह भी है कि विवाह के वैध होने के लिए पक्षों की सहमति आवश्यक नहीं है। हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 12(1)(सी) में उल्लेख है कि यदि विवाह की सहमति बलपूर्वक या धोखे से ली जाए, तो वह विवाह अमान्य होगा। इसके अतिरिक्त, धारा 5, 11, और 12 किसी अनुबंध के लिए खास विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है; इस प्रकार, हिंदू विवाह को एक धार्मिक संस्कार के साथ-साथ एक संविदात्मक करार के रूप में भी देखा जाता है।

अश्वलायन गृह्य सूत्र में विवाह से पहले माता और पिता दोनों पक्षों से पारिवारिक पृष्ठभूमि की जांच करने के महत्व पर जोर दिया गया है। मनु ने भी किसी प्रतिष्ठित परिवार में विवाह करने की अनुशंसा की, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि संबंधियों को श्रुति और स्मृति के अनुरूप शुद्ध आचरण करना चाहिए, अच्छे परिवारों में जन्म लेना और अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, और संतुष्ट रहना चाहिए। व्यक्ति में विनम्रता, सहमति, पवित्रता और निष्पक्षता जैसे गुण होने चाहिए। उन्हें लोभ, मोह, ईर्ष्या, घमंड और आसक्ति से मुक्त रहने के साथ-साथ शांत रहना चाहिए

कदाचित यह ध्यान रखना जरूरी है कि प्राचीन भारत में एक संस्कार के रूप में विवाह की व्याख्या कई प्रमुख मापदंडों के आधार पर की जाती थी। इनमें विवाह के लिए साथी का चयन, पारिवारिक पृष्ठभूमि की जांच, वर-कन्या की पात्रता और अयोग्यता, विवाह के लिए उचित आयु, जाति व्यवस्था का पालन और पति-पत्नी के बीच विवाह को वैध बनाने के लिए विभिन्न वर्जनाएं शामिल थीं।

अश्वलायन गृह्य सूत्र में विवाह से पहले माता और पिता दोनों पक्षों से पारिवारिक पृष्ठभूमि की जांच करने के महत्व पर जोर दिया गया है। मनु ने भी किसी प्रतिष्ठित परिवार में विवाह करने की अनुशंसा की, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि संबंधियों को श्रुति और स्मृति के अनुरूप शुद्ध आचरण करना चाहिए, अच्छे परिवारों में जन्म लेना और अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, और संतुष्ट रहना चाहिए। व्यक्ति में विनम्रता, सहमति, पवित्रता और निष्पक्षता जैसे गुण होने चाहिए। उन्हें लोभ, मोह, ईर्ष्या, घमंड और आसक्ति से मुक्त रहने के साथ-साथ शांत रहना चाहिए।[20] इसलिए कुटिल, अवैध गतिविधियों में लिप्त या वैदिक परंपराओं का पालन न करने वाले परिवारों को विवाह के लिए अनुपयुक्त माना गया। कन्या और वर की पात्रता को लेकर अश्वलायन गृह्य सूत्र में स्थापना दी गई है कि कन्या का चरित्र अच्छा होना चाहिए, वह रोगमुक्त और बुद्धिमान हो। इसी तरह, वर का परिवार भी अच्छा होना चाहिए, वह स्वयं सच्चरित्र, शुभ गुण वाला और शिक्षित हो, और उसका स्वास्थ्य अच्छा हो।[21]

हिंदू विवाहों पर कड़े प्रतिबंध भी थे, विशेष रूप से *सपिंडा* और *सगोत्र* अथवा *समान प्रवर* के संबंधों के संदर्भ में। ये प्रतिबंध सभी वर्णों और जातियों पर लागू होते हैं, किंतु कानूनी ग्रंथों में व्याख्याएँ भिन्न हो सकती हैं। स्मृतियों में यह स्पष्ट किया गया है कि विवाह हेतु मान्य होने के लिए, पुरुष और महिला का निषिद्ध रिश्तों के भीतर संबंध नहीं होना चाहिए। मनु के अनुसार[22]:

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।।

"कोई लड़की यदि अपनी माँ की ओर से सपिंडा नहीं हो, और अपने पिता की ओर से समान गोत्र (वंश) में नहीं पड़े, तो उसे द्विजों के बीच विवाह और दांपत्य संबंध के लिए उपयुक्त माना जाता है। इस बात की पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृति 1 52 में भी इसी प्रकार की गई है।

उदाहरणस्वरूप, वशिष्ठ ने मातृ पक्ष में चौथी पीढ़ी तक विवाह न करने का सिद्धांत

दिया, जबकि नारद ने पिता के पक्ष में इसे सातवीं पीढ़ी तक कर दिया। धर्मशास्त्र और मनुस्मृति ने इस प्रकार के विवाहों पर प्रतिबंध लगाया, और गौतम ने दम्पति को बहिष्कृत घोषित करके दंड का प्रावधान किया। अन्य प्रतिबंधों में एक ही परिवार में दो बेटियों का विवाह न करना, विवाह के लिए बेटों और बेटियों का आदान-प्रदान न करना, और कन्या के दहेज पर प्रतिबंध शामिल थे। ऐतरेय ब्राह्मण में भी ऐसे लेन-देन वाले विवाहों को "पशु विवाह" की श्रेणी में रखा गया है।

निषेध का एक और नियम यह है कि कन्या और वर को समान गोत्र या प्रवर का नहीं होना चाहिए। यदि पुरुष वंश में दो व्यक्तियों की उनकी वंशावली एक ही पुरुष पूर्वज से हो, तो उन्हें एक ही गोत्र का माना जाता है। परंपरागत रूप से, प्रत्येक परिवार अपने साझा पूर्वजों का पता लगाने के लिए अपने 'गोत्र और प्रवर' के ज्ञान को सुरक्षित रखता है।

अपने सात चरणों की विशेषता वाला सप्तपदी अनुष्ठान एक महत्त्वपूर्ण समारोह है जो पारंपरिक हिंदू विवाह को स्थायी और अटूट बनाता है। इस अनुष्ठान में, वर कन्या का मार्गदर्शन करते हुए उसके साथ सात कदम चलता है, जिसमें कन्या का दायां पैर पश्चिम दिशा में होता है, और दोनों पवित्र अग्नि के उत्तर में रखे चावल के सात छोटे ढेरों पर चलते हैं।

इसके अतिरिक्त, विवाह समारोह में, वर को एक ठोस वचन देना पड़ता है। जब कन्या का विवाह किया जाता है, तो पिता, या उनकी अनुपस्थिति में, संरक्षक वर को इन शब्दों में संबोधित करते हैं।

धर्मे चार्थे च कामे नातिचरितव्या त्व इयं

आप धर्म, अर्थ और काम की खोज में उसके अधिकारों का उल्लंघन नहीं करेंगे।

तब वर इस शर्त को स्वीकार करते हुए कहता है :

नातिचरामि

"मैं धर्म, अर्थ और काम के मामलों में उसके अधिकारों का उल्लंघन नहीं करूंगा।"

यह वचन इस बात का प्रतीक है कि विवाह का उद्देश्य पति और पत्नी दोनों के जीवन के सभी पहलुओं को पूरा करना है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न स्मृतियों के अनुसार पति और पत्नी दोनों असाधारण परिस्थितियों में एक दूसरे से अलग हो सकते हैं, किंतु उस काल में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी क्योंकि विवाह को एक शाश्वत बंधन माना जाता था। मनु के अनुसार :

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा।।[24]

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी।।[25]

यदि पत्नी मदिरापान करे, खराब व्यवहार करे, अवज्ञाकारी हो, अस्वस्थ हो, परेशान करने वाली हो, या अति व्ययी हो, तो पति कभी भी उसे छोड़कर किसी अन्य महिला से विवाह कर सकता है। यदि पत्नी संतान उत्पन्न करने में असमर्थ हो, तो पति आठ वर्षों के बाद उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर सकता है। यदि उसके सभी बच्चे मर जाएं, तो दस वर्षों के बाद उसे छोड़कर दूसरा विवाह किया जा सकता है। यदि वह केवल बेटियों को जन्म दे, तो पति ग्यारह वर्षों के बाद उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर सकता है। यदि वह झगड़ालू हो, तो पति अविलंब उसका त्याग कर दूसरा विवाह कर सकता है।

इसी प्रकार, पत्नी को भी पति को छोड़कर दूसरा विवाह करने का अधिकार था। इस संबंध में विभिन्न ग्रंथों स्पष्ट प्रावधान मिलते हैं।

पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात् पुनः
संस्कारमर्हति।।[26]

यदि किसी महिला का विवाह शास्त्रसम्मत हो, किंतु विवाह पूरा होने से पहले पति की मृत्यु हो जाए, तो वह पुनर्विवाह कर सकती है।

मनु कहते हैं :

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्।।[27]

नारद स्मृति, धर्मकोश देखें :

अज्ञानदोषादूढा या निर्गता नान्यमाश्रिता।
बन्धुभिः सा नियोक्तव्या निर्बन्धुः
स्वयमाश्रयेत्।।
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।[28]

यदि विवाह के बाद पति के किसी अज्ञात दोष का पता चले, तो पत्नी के संबंधी उसका विवाह किसी अन्य पुरुष से करा सकते हैं। यदि उसका कोई सगा-संबंधी नहीं हो, तो वह स्वयं किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने का निर्णय ले सकती है।

इसके अतिरिक्त, यदि किसी महिला का पति खो जाए, उसकी मृत्यु हो जाए, वह धार्मिक संन्यासी हो जाए, वह नपुंसक हो, या जाति से निष्कासित हो, तो वह महिला किसी दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती है।[29]

इसी प्रकार, वर्तमान समय में, हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 में विभिन्न स्मृतियों और अन्य प्राचीन ग्रंथों में वर्णित अधिकांश प्रावधानों का निर्धारण यथावत किया गया है। ध्यातव्य है कि मनुस्मृति, नारद स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर स्मृति आदि जैसी विभिन्न स्मृतियों में समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न प्रावधानों का निर्धारण किया गया। इसी प्रकार, एचएमए 1955 में समाज की बदलती जरूरतों के अनुरूप कई प्रावधान शामिल किए गए। उदाहरणस्वरूप, एक स्मृति में असाधारण स्थितियों में पति और पत्नी के एक दूसरे से अलग होने के अधिकार का प्रावधान है, जो दूसरी स्मृति में नहीं मिल सकता है। पहले, किसी विधवा को फिर से विवाह करने का अधिकार नहीं था, किंतु कालांतर में उसे यह अधिकार दे दिया गया। विभिन्न स्मृतियों में निर्धारित सभी अलग-अलग प्रावधानों के बावजूद, विवाह नितांतः एक संस्कार था और इसे पति-पत्नी के बीच करार नहीं माना जाता था। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 में प्रयुक्त अमान्य, खंडनीय, धोखाधड़ी, विच्छेद, परस्पर सहमति, वैध शर्तें आदि जैसी शब्दावली की व्याख्या भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 में वर्णित 'संविदा' के आधार पर करना गलत है।

कला रमण बनाम रवि रंगनाथन[30] मामले में न्यायमूर्ति हरीश टंडन ने इस प्रकार टिप्पणी

तर्क दिया जाता है कि विवाह पक्षों को कानूनी मान्यता देता है, और फलस्वरूप, उनके एक दूसरे के प्रति अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। यह स्थिति विवाह को एक अनुबंध का रूप देती है। किंतु, यह व्याख्या त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि प्राचीन भारत में, पवित्र वैवाहिक बंधन में भी इसी तरह के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण किया गया था। यह ध्यान रखना जरूरी है कि न्यायिक निर्णयों के आधार पर विवाह का विनियमन होता है, जिस पर किसी भी पक्ष का कोई नियंत्रण नहीं होता। यह एकतरफा प्रक्रिया है; विवाह के बाद, न्यायालय के आदेश के बिना कोई भी पक्ष स्वयं अलग नहीं हो सकता

की : हिंदू कानून में विवाह को संविदात्मक करार की बजाय एक संस्कार के रूप में देखा जाता है। हिंदू विवाह अधिनियम ने निस्संदेह विवाह को एक पवित्र अनुष्ठान के रूप में देखने की परंपरागत हिंदू धारणा पर प्रभाव डाला है, यद्यपि यह दृष्टिकोण बहुत हद तक अपरिवर्तित रहा है। अधिनियम की धारा 12 (1) (सी) में वर्णित धोखाधड़ी की परिभाषा की तुलना संविदा अधिनियम की धारा 17 में वर्णित धोखाधड़ी की परिभाषा से नहीं की जानी चाहिए। हिंदू विवाह अधिनियम और संविदा अधिनियम अलग-अलग क्षेत्रों से संबद्ध हैं, जिनमें हिंदू विवाह अधिनियम का संबंध विशेष रूप से विवाह से संबद्ध मामलों से है, जबकि संविदा अधिनियम करारों और वाणिज्यिक लेनदेन से संबद्ध है। ऐसे में, स्पष्ट है कि संविदा अधिनियम में उल्लिखित धोखाधड़ी की कानूनी अवधारणा को विवाहों के मामले में लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्हें पवित्र माना जाता है। जैसा कि हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13 बी के प्रावधान में उल्लेख है, संविदा के विपरीत, जब तक तलाक के लिए दोनों पक्षों की सहमति न हो जाए, विवाह को किसी भी पक्ष की इच्छा के अनुरूप तोड़ा नहीं जा सकता।

तर्क दिया जाता है कि विवाह पक्षों को कानूनी मान्यता देता है, और फलस्वरूप, उनके एक दूसरे के प्रति अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। यह स्थिति विवाह को एक अनुबंध का रूप देती है। किंतु, यह व्याख्या त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि प्राचीन भारत में, पवित्र वैवाहिक बंधन में भी इसी तरह के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण किया गया था। यह ध्यान रखना जरूरी है कि न्यायिक निर्णयों के आधार पर विवाह का विनियमन होता है, जिस पर किसी भी पक्ष का कोई नियंत्रण नहीं होता। यह एकतरफा प्रक्रिया है; विवाह के बाद, न्यायालय के आदेश के बिना कोई भी पक्ष स्वयं अलग नहीं हो सकता। मुल्ला, बी.के. शर्मा, बी.एन. संपत और डेरेट जैसे लेखकों का मानना है कि हिंदू विवाह एक संस्कार है, कोई अनुबंध नहीं। मुल्ला के अनुसार हिंदू विवाह एक संस्कार है और तलाक कानून निर्मित प्रावधान है। बी.के. शर्मा का मानना है कि "वर्ष 1976 में हिंदू विवाह अधिनियम में हुए संशोधन के बावजूद, इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने माना कि हिंदू कानून के तहत विवाह अभी भी एक संस्कार है और संबंध के पुनर्स्थापन[31] का प्रयास किया जाना चाहिए।" बी.एन. संपत के अनुसार हिंदू विवाह संपन्न होने के बाद, उसे न्यायपालिका अमान्य नहीं कर सकती। डेरेट का मानना है कि संस्कार संपन्न हो जाने के बाद, उसे तोड़ा नहीं जा सकता। किंतु ऐसे कुछ अधिकारों को निरस्त किया जा सकता है, जो धर्मनिरपेक्ष हों, क्योंकि विवाह के बाद वर और वधू के एक दूसरे के प्रति बने अधिकार और कर्तव्य तलाक के कारण समाप्त हो जाते हैं।

हिंदू विवाह की संस्था राज्य निर्मित नहीं है। यह राज्य के निर्माण से पहले भी अस्तित्व में थी। यह अपने आप में एक संस्कार है और विवाह को नियंत्रित करने वाले किसी भी प्रावधान से मुक्त है। विवाह को नियंत्रित करने वाले प्रावधान राज्य निर्मित हैं। यह स्थिति विवाह को अनुबंध या समझौता केवल इसलिए नहीं बना सकती कि इन प्रावधानों का संबंध करार या समझौते से है।

इन विभिन्न महत्त्वपूर्ण न्यायिक निर्णयों पर विचार करते हुए, कहा जा सकता है कि 'हिंदू विवाह पूरी तरह से एक संस्कार है।'

शिवानंदी बनाम भागवती अम्मा[32] मामले में, मद्रास उच्च न्यायालय की टिप्पणी के अनुसार विवाह एक वचनबद्धता है, जो जीवनपर्यंत बनी रहती है। न्यायालय ने कहा कि सप्तपदी (सात कदम) के अनुष्ठान से किया गया विवाह एक धार्मिक बंधन को जन्म देता है जिसे कभी तोड़ा नहीं जा सकता। न्यायालय ने इस प्रकार के विवाह की तीन मुख्य विशेषताओं की अवधारणा दी : यह एक स्थायी संबंध, एक शाश्वत संबंध, और एक पवित्र या अलंघनीय संबंध है।

टिकैत बनाम बसंत[33] मामले में, न्यायालय ने निर्णय दिया कि विवाह हिंदू कानून के तहत एक संस्कार और एक अविच्छेद्य संबंध है, जो दंपति के शरीरों और आत्माओं को एक ऐसे बंधन में जोड़ता है जो मरणोपरांत भी कायम रहता है।

रघुबर सिंह एवं अन्य बनाम गुलाब सिंह एवं अन्य[34] मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्टत: कहा कि प्राचीन शास्त्रों में वर्णित हिंदू विधि के अनुसार, हिंदुओं के बीच विवाह एक पवित्र संस्कार है। यह धार्मिक अनुष्ठान एक पवित्र और स्थायी संबंध का सृजन करता है, जिसमें पत्नी पति के जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है, और उसे अर्धांगिनी (पति का आधा अंग) की संज्ञा दी जाती है।

मनोरमा अक्किनेनी बनाम जानकीरमण गोविंदराजन,[35] मामले में, न्यायालय ने कहा कि हिंदू धर्म में विवाह को विश्वास, परस्पर स्नेह और समान दायित्वों पर आधारित एक वचनबद्धता के रूप में देखा जाता है, जो जीवनपर्यंत बनी रहती है। विवाह अनुष्ठान में प्रयुक्त वैदिक अनुष्ठान और प्रार्थनाएं वर और कन्या दोनों के कर्तव्यों का निर्धारण करती हैं और उन्हें विवाह की सीमा में

स्वतंत्रता प्रदान करती हैं। हिंदू विवाह के मुख्य उद्देश्यों में धार्मिक कर्तव्यों का पालन (*धर्म*), प्रजनन (*प्रजा*) और काम तुष्टि (*रति*) शामिल हैं। महिलाओं की अपेक्षाओं में बदलाव लाने वाले और परंपराओं, रीति-रिवाजों, नैतिकताओं व संबंधों को प्रभावित करने वाले पश्चिमीकरण के प्रभावों के बावजूद, हिंदू विवाह किसी अनुबंध के रूप में नहीं बल्कि एक पवित्र संस्कार के रूप में कायम है।

हाल के *सुप्रियो @ सुप्रिया चक्रवर्ती बनाम भारत संघ*[36] मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि हिंदुओं और कैथोलिक ईसाइयों की परंपराओं जैसी विभिन्न परंपराओं में विवाह को एक पवित्र संस्कार और एक अविच्छेद्य संबंध माना जाता है।

कुछ समय पूर्व डॉली रानी बनाम मनीष *कुमार चंचल*[37] मामले में सर्वोच्च न्यायालय के नवीनतम न्यायिक फैसले के अनुसार, न्यायमूर्ति बी.वी. नागरत्ना और ऑगस्टीन जॉर्ज मसीह की पीठ ने कहा : "हिंदू विवाह एक 'संस्कार' और एक पवित्र प्रथा है, जिसे भारतीय समाज में एक श्रेष्ठ मूल्य की संस्था के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।" न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि हिंदू विवाह का पंजीकरण केवल विवाह के प्रमाण के रूप में कार्य करता है। किंतु, हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 7 के तहत निर्धारित रस्में और अनुष्ठान, जैसे सप्तपदी (जिसमें वर और कन्या अग्नि के चारों ओर सात बार चलते हैं), जब तक पूरे नहीं हो जाते, तब तक विवाह को वैध नहीं माना जाता।

न्यायाधीशों ने इस चिंताजनक प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला कि वर-वधू विवाह को केवल 'नृत्य-संगीत' और 'मदिरापान व भोजन' का कार्यक्रम बना देते हैं, जिससे संस्था की पवित्रता धूमिल होती है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि विवाह का अनावश्यक दबाव में दहेज या उपहार माँगने और आदान-प्रदान करने का अवसर होना ठीक नहीं है, इससे आपराधिक कार्य की स्थिति बन सकती है। न्यायालय ने इस बात पर भी बल दिया कि विवाह कोई व्यापारिक लेन-देन नहीं, बल्कि एक पवित्र कार्यक्रम है, जो एक पुरुष और एक महिला के बीच संबंध कायम करता है, उन्हें पति और पत्नी का दर्जा प्रदान करता है और एक अंकुरणशील परिवार का आधार बनाता है, जो भारतीय समाज की एक मूलभूत इकाई है। न्यायाधीशों की पीठ के अनुसार :

"हिंदू विवाह वंश-वृद्धि को सुगम बनाता है, परिवार की इकाई को सुदृढ़ करता है, और विभिन्न समुदायों के बीच भाईचारे की भावना को मजबूत करता है। विवाह इसलिए पवित्र है, क्योंकि यह दो व्यक्तियों के बीच एक जीवनपर्यंत अटूट, गरिमापूर्ण, समान, परस्पर सहमति पर आधारित और स्वस्थ संबंध स्थापित करता है। इसे व्यक्ति को मोक्ष प्रदान करने वाली एक घटना माना जाता है, जिसमें अनुष्ठानों और समारोहों का आयोजन किया जाता है। मान्यता है कि अपने सभी क्षेत्रीय और सांस्कृतिक विविधताओं के साथ, प्रथागत समारोह व्यक्ति के आध्यात्मिक अस्तित्व को परिष्कृत और रूपांतरित करने का कार्य करते हैं।"

विवाह की पवित्रता के समक्ष उभरते संकट

ऐसी कोई लिखित सामग्री या कानूनी दस्तावेज नहीं है, जिसमें विवाह जैसे विभिन्न रिश्तों की कोई संक्षिप्त परिभाषा हो। इन रिश्तों के लिए आम तौर पर प्रयुक्त शब्दों में विवाह, विवाहेतर (गैर-वैवाहिक) संबंध, विवाह-सदृश संबंध, सहवास और दांपत्य संबंध शामिल हैं। ये रिश्ते अविवाहित लोगों के लिए हैं जो कानून में निर्धारित विवाह की न्यूनतम आयु सीमा पार और विवाह करने की क्षमता प्राप्त कर चुके हों, और जो समाज में एक-दूसरे को *पति और पत्नी के रूप में स्वीकार करें।*[38] भारत में सहवास संबंध की बढ़ती प्रवृत्ति विवाह की पवित्रता के लिए एक गंभीर खतरा बन गई है, क्योंकि न्यायालयों ने भी सहवास संबंध को विवाह के समान मान्यता देना शुरू कर दिया है। लालिता टोप्पो बनाम *झारखंड राज्य*[39] मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यदि कोई महिला और पुरुष लंबे समय तक साथ-साथ रहते हों और उन्हें समाज की स्वीकृति मिल गई हो, तो समाज उन्हें विवाहित मान सकता है। इसके अतिरिक्त, डी. वेलुसामी बनाम *डी. पतचाइअम्मल*[40] मामले में, दो अविवाहित वयस्कों के बीच संबंध को 'विवाह सदृश संबंध' माना जा सकता है या नहीं, इसके निर्धारण के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ मानदंडों का प्रतिपादन किया। इन मानदंडों को पूरा करने के लिए, व्यक्तियों को स्वेच्छा से एक साथ रहना चाहिए और दीर्घ काल तक एक जोड़े के रूप में सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत होना चाहिए, जैसे कि विवाहित साथी। इन मानदंडों का पालन करते हुए महिला और पुरुष स्वेच्छा से एक साथ और सार्वजनिक रूप से दीर्घ काल तक दंपति के रूप में रह सकते हैं।

घरेलू हिंसा से महिलाओं के संरक्षण अधिनियम, 2005 के तहत, इन संबंधों को कानूनी तौर पर विवाह के समान मान्यता दी गई है, किंतु इसके लिए विभिन्न अवसरों पर न्यायालय द्वारा निर्धारित विशिष्ट

ऐसी कोई लिखित सामग्री या कानूनी दस्तावेज नहीं है, जिसमें विवाह जैसे विभिन्न रिश्तों की कोई संक्षिप्त परिभाषा हो। इन रिश्तों के लिए आम तौर पर प्रयुक्त शब्दों में विवाह, विवाहेतर संबंध, विवाह-सदृश संबंध, सहवास और दांपत्य संबंध शामिल हैं। ये रिश्ते अविवाहित लोगों के लिए हैं जो कानून में निर्धारित विवाह की न्यूनतम आयु सीमा पार और विवाह करने की क्षमता प्राप्त कर चुके हों, और जो समाज में एक-दूसरे को पति और पत्नी के रूप में स्वीकार करें। भारत में सहवास संबंध की बढ़ती प्रवृत्ति विवाह की पवित्रता के लिए एक गंभीर खतरा बन गई है, क्योंकि न्यायालयों ने भी सहवास संबंध को विवाह के समान मान्यता देना शुरू कर दिया है

शर्तों को पूरा करना अनिवार्य है। इस अधिनियम की धारा 2(एफ) और 2(एस) के अनुसार, एक पुरुष और एक महिला का एक घर में एक पारिवारिक संबंध में रहना आवश्यक है, तभी उनके संबंध को 'विवाह के समान संबंध' माना जा सकता है और महिला को कानूनी सुरक्षा मिल सकती है। किंतु, हिंदू विवाह *अधिनियम, 1955*[41] के तहत उसे कानूनी रूप से विवाहित पत्नी को मिलने वाले सभी लाभ नहीं मिलेंगे। *धन्नूलाल बनाम गणेशराम*[42] मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि किसी महिला के अविवाहित साथी, जिसके साथ वह रहती थी, की मृत्यु के बाद उसकी संपत्ति पर उस महिला का अधिकार होगा।

वैवाहिक संबंधों के इन अलग-अलग प्रकारों के पनपने में कई कारकों का योगदान होता है, जैसे संगति की इच्छा, विवाह को लेकर वचनबद्धता का अभाव, विवाह के बाद अपने कर्तव्यों के निर्वहन के प्रति उदासीनता, व्यक्तिगत आचरण, विशेष परिस्थितियां, यौन स्वतंत्रता, एकांतता, बचत या व्यय योग्य आय, फोन सेक्स, पोर्नोग्राफी और यौन संदेशों के आदान-प्रदान में लिप्तता, लंबे समय तक काम करना, कम आयु में पवित्रता का नष्ट हो जाना, कार्यस्थल की गतिशीलता, कार्यस्थल के बाहर सीमित अवसर, कार्यस्थल में यौन संबंध, आनंद और मनोरंजन पर ध्यान, यौन अपराधियों की उपस्थिति और *विवाह में विलंब*।[43] मौजूदा पीढ़ी की बदलती जीवनशैली के कारण जिम्मेदारी में कमी और इसके फलस्वरूप नैतिक सिद्धांतों और विभिन्न प्रकार के संबंधों में गिरावट आई है। फलतः, कामपरक गतिविधि उत्तरोत्तर प्रबल हुई है, जिससे भारत में विवाह की अनेकानेक प्रथाओं का उदय हुआ है। अविवाहित पुरुषों और महिलाओं के बीच सहवास आम हो चला है, और लोगों में कानूनी व *सामाजिक परिणामों*[44] के प्रति चिंता में कमी आई है।

जहां तक 'विवाह के समान उभरते अलग-अलग संबंधों' का प्रश्न है, जब तक दोनों साथी एक-दूसरे के व्यवहार से संतुष्ट हों, वे कानूनी विवाह के बिना भी एक साथ रह सकते हैं। यदि सह-संबंध समाप्त होता है, तो विवाहेतर संबंधों में शामिल पक्ष विच्छेद के लिए न्यायालय जाने की आवश्यकता नहीं समझते, बल्कि नए संबंध कायम कर लेते हैं। यह सामाजिक परिवर्तन पवित्र विवाह की पारंपरिक धारणा की विफलता का परिणाम है। विवाह कानूनों ने विवाह के संविदात्मक अवधारणा की पुनर्व्याख्या की है, जिसके फलस्वरूप विवाह-सदृश विभिन्न संबंधों का उदय हुआ है। फलतः, समकालीन भारत में एक उल्लेखनीय परिवर्तन आया है, जब युवा पीढ़ी विवाह के दायित्वों से बच रही है और विवाह प्रथा के सदृश विभिन्न संबंधों को अपना रही है। लोग विवाह जैसे बढ़ते संबंधों में अप्रतिबंधित प्रवेश और निकास की नीति अपना रहे हैं। ये संबंध अस्थायी होते हैं, क्योंकि इनमें कोई दायित्व नहीं होता। जब तक कोई असुविधा नहीं हो, ये संबंध सामंजस्य के साथ चलते रहते हैं। किंतु, जब पीड़ा सह्यता की स्थिति आती है, तब ये टूट जाते हैं, जिसका प्रभाव न केवल व्यक्ति के जीवन पर, बल्कि समाज पर भी पड़ता है, क्योंकि *इन संबंधों में*[45] वचनबद्धता की कमी होती है।

विवाह संस्था के भीतर नानारूप संबंधों के उदय के कई नकारात्मक पहलू हैं, जिनमें निम्न गुणवत्ता वाले विवाह, विवाह निर्णयों पर प्रभाव, वैवाहिक जीवन के स्थायित्व पर प्रभाव, विवाहित व्यक्तियों के बीच संबंधों का अपर्याप्त विकास, बच्चों पर प्रभाव, और विवाहित व्यक्तियों का अपने परिवारों से दूर होना[46] शामिल हैं। कुल मिलाकर, इन संबंधों के कारण समाज में असंतुलन आया है और समाज के प्रति अधिक समर्पित और लाभकारी विवाह प्रथा के महत्व और संतुलन पर प्रभाव पड़ा है।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने *जोसेफ शाइन बनाम भारत संघ*[47] के ऐतिहासिक मामले में, भारतीय दंड संहिता की धारा 497 के तहत जारकर्म को अपराध मानने वाले प्रावधान को निरस्त कर दिया, जो 162 वर्षों से प्रभावी था। जारकर्म को वैध करना वस्तुतः विवाहेतर संबंधों को वैध करना है, जिनका भारत में चलन नहीं है, और भारतीय समाज जारकर्म को नैतिक रूप से गलत मानता है और उसे स्वीकार नहीं करता। हिंदू परंपरा जारकर्म की नैतिक और सामाजिक रूप से हमेशा निंदा करती रही है। अपनी स्मृति में मनु ने जारकर्म को सर्वाधिक जघन्य कृत्य बताया है। पति या पत्नी का विवाहेतर संबंध में लिप्त होना निश्चय ही विश्वासघात है और इसे व्यापक स्तर पर पाप माना जाता है। जारकर्म जब तक अपराध की श्रेणी में रहा, तब तक व्यभिचार पर रोक थी, किंतु कुछ समय पूर्व इसे अपराध की श्रेणी से मुक्त कर दिया गया है। आज, विवाहितों में विवाहेतर संबंधों की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसके फलस्वरूप तलाक के मामलों में वृद्धि हो सकती है और विवाह की गरिमा में कमी आ सकती है।

कुछ समय पूर्व, सर्वोच्च न्यायालय में एक समलैंगिक जोड़े को विवाह करने के मौलिक अधिकार की माँग के साथ एक याचिका, *सुप्रियो @ सुप्रिया चक्रवर्ती बनाम भारत संघ*[48], दायर की गई थी। इस याचिका ने विवाह की गरिमा पर भी प्रहार करने का प्रयास किया। किंतु, समलैंगिक विवाहों को संवैधानिक वैधता के विरुद्ध निर्णय देते हुए, इस याचिका को 3 : 2 के आदेश से खारिज कर दिया गया।

किंतु कुछ दिनों पहले, देवू *जी. नायर बनाम केरल राज्य*[49] मामले में, माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने 'छद्म निर्णय सिद्धांत (डॉक्ट्राइन ऑव कलरेबल जजमेंट)' के आधार पर समलैंगिक विवाह के पांच न्यायाधीशों की पीठ के निर्णय को तीन न्यायाधीशों की पीठ से पलटने का प्रयास किया। यहां, अपने हस्तक्षेप को विशिष्ट मामले तक सीमित रखने की बजाय सर्वोच्च न्यायालय ने समलैंगिक, ट्रांसजेंडर (किन्नर) युगल आदि जैसे अंतरंग साथियों की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर दिशा-निर्देश जारी किए और नाबालिगों को 'चयन का अधिकार' दिया, ताकि वे अपने जन्म परिवार की बजाय चयनित परिवार को अपना सकें। इस प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय ने विधायिका के क्षेत्र से शुरू किया और न्यायिक संयमों और शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांतों को शक्तिहीन कर दिया। ये निर्णय हमारे नाबालिग बच्चों के लिए गंभीर संकट उत्पन्न करने के साथ-साथ हमारे पारिवारिक ताने-बाने को तोड़ रहे हैं। न्यायालय का यह कार्य परोक्ष रूप से, समलैंगिक संबंधों को बढ़ावा दे रहा है, जिससे विवाह जैसी

सामाजिक प्रथाओं को संकटों का सामना करना पड़ता है।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम प्रथाओं और संस्कारों में से एक 'विवाह को अनेकानेक संकटों का करना पड़ रहा है। केवल वैश्वीकरण, उदारीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी में आई प्रगति ने ही इसके स्वरूप पर गंभीर प्रभाव नहीं डाला है, बल्कि वैवाहिक संबंध के प्रति न्यायिक पद्धति का रुख भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है, जिसने विवाह की गरिमा को धूमिल किया है। न्यायपालिका ने मौजूदा कानूनों और न्यायिक घोषणाओं के बीच विरोधाभास उत्पन्न कर भ्रम की स्थिति को और गहरा कर दिया है। न्यायिक निर्णयों के फलस्वरूप समलैंगिक संबंधों, विवाहेतर संबंधों और नाबालिगों की कामाचार के प्रति ललक को प्रोत्साहन मिलता है, जो नैतिक और कानूनी दोनों दृष्टियों से अनुचित हैं।

संयुक्त परिवार से एकल परिवार तक और फिर एकल परिवार से परिवारहीनता तक, अविवाहित रहना या विवाह के बाद संतानोत्पत्ति के प्रति उदासीनता युवा पीढ़ी के लिए प्राथमिक सामाजिक मानक बनती जा रही है। तलाक के मामलों में उत्तरोत्तर वृद्धि एक गंभीर चिंता का विषय है। समाज के सामूहिक विवेक के विपरीत अविवाहित रहने और व्यक्तिगत निर्णयों की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण भारत के पारंपरिक विवाह और परिवार प्रथाओं के समक्ष एक नया सामाजिक संकट पनप रहा है। वैवाहिक संबंधों और पारिवारिक प्रणाली में कानून व न्यायपालिका के अत्यधिक हस्तक्षेप के चलते इन संस्थाओं को गंभीर नुकसान पहुंच रहा है। न्यायिक व्याख्याओं में विदेशी न्यायशास्त्र को अपनाना और उसे हमारे समाज व परिवार पर लागू करना विवाह की गरिमा को धूमिल कर रहा है।

हमें हमारे लोगों को पश्चिमी दुनिया की इन प्रथाओं के नकारात्मक प्रभावों के प्रति जागरूक करना चाहिए और उन्हें विवाह व परिवार प्रथाओं के प्रति हमारे दार्शनिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण की रक्षा और प्रचार करने को बढ़ावा देना चाहिए। ये हमारी शक्ति हैं और हमें इनकी रक्षा हर हाल में करनी चाहिए।

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 10.85.42
2. सुप्रियो / सुप्रियो चक्रवर्ती एवं एएनआर बनाम भारत संघ, (2023) आईएनएससी 920.1
3. ई. वेस्टर्मार्क, दि हिस्ट्री ऑव ह्यूमन मैरेज (मैकमिलन 1922) खं. 1 पृ. 26
4. मुनस्मृति, 3.21.
5. पी. एच. प्रभु, हिंदू सोशल ऑर्गेनाइजेशन (सेज (एसएजीई) पब्लिकेशन्स, 2019)
6. के. एम. कापड़िया, मैरेज एंड फैमिलि इन इण्डिया (ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966)
7. सुप्रा नोट 7.
8. ऋग्वेद, 10.85.36.8
9. ऋग्वेद, 3.53.4.9
10. ऋग्वेद, 10.85.46.
11. ऋग्वेद, 10.85 ,3.53.4
12. ऋग्वेद, 10.85, 3.53.6.
13. ऋग्वेद, 10.85.37.13
14. मनुस्मृति, 9.102.
15. मनुस्मृति 9.101.
16. साधु सिहं बलवन्त सिंह बनाम जगदीश कौर साधु सिंह, (1998) एआईआर 1969 पी एवं एच 139.
17. ऋग्वेद, 13.85.3.
18. ऋग्वेद, 10.85.39.
19. संखयान गृह्य सूत्र, 13.15.17.
20. मनुस्मृति, 3.6, 3 : 17.
21. आपस्तंब गृह्यसूत्र, 3.20.21
22. मनुस्मृति, 3.5.22.
23. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.16.23.
24. मनुस्मृति, 9.80.
25. मनुस्मृति, 9.81.
26. वसिष्ठ, पृ. 92-94, धर्मकोश, पृ. 1021.
27. मनुस्मृति, 9.76.
28. नारद स्मृति, पृ. 184-185, 96-97; धर्मकोश, पृ. 11000.
29. नारद स्मृति, पृ. 12.97.
30. कला रमण बनाम रवि रंगनाथन (2015).
31. गोपाल कृष्ण शर्मा बनाम डॉ. मिथिलेश कुमारी शर्मा, (1979) एआईआर एएलएल 316.
32. शिवनंदी बनाम पी. भागवंती अम्मा, (1961) एआईआर एमएडी 400.
33. टिकैत मोन मोहिनी जेमादाई बनाम बसंत कुमार सिंह, (1901) आईएलआर 28 सीएएल 751.
34. रघुवर सिंह एवं अन्य बनाम गुलाब सिंह एवं अन्य (1998) 6 एससीसी 314.
35. मनोरमा अक्किनेनी बनाम जानकीरमण गोविंदराजन, (2014) 4 सीटीसी 20.
36. सुप्रा नोट 4.
37. डॉली रानी बनाम मनीष कुमार चंचल, (2024) 5 एससीआर. 510.
38. हरसिमरन कौर बेदी, दि कॉन्सेटप्ट ऑव मैरेज अंडर हिंदू लॉ एंड इट्स चेंजिंग डाइमेंसंस, आईएलआई लॉ रिव्यू (2022).
39. ललिता टोप्पो बनाम झारखंड राज्य, (2018).
40. डी. वेलुसामी बनाम डी. पतचाईअम्मल, (2011) एआईआर एससी 479.
41. इंद्र शर्मा बनाम वी. के. शर्मा, (2014) एआईआर एससी 309; भारद्वाज बनाम ज्योत्स्ना, क्रिमिनल रिविजन नं. 166 ऑव 2015
42. धन्नूलाल एवं अन्य बनाम गणेशराम एवं एएनआर, (2015) एआईआर एससीडब्ल्यू 2839.
43. जुडिथ पी. एम. सून्स एवं मत्थिस कालिमन), इज मैरेज मोर दैन कोहैबिटेशन? वेल-बीइंग डिफरेंसेज इन 30 यूरोपियन कंट्रीज, जर्नल ऑव मैरेज एंड फैमिली (2009).
44. सुप्रा नोट 41.
45. वही
46. एम. एल. क्लेमेंट्स एवं एस. एम. स्टैनले, बिफोर दे से आई डू : डिस्क्रिमिनेटिंग एमंग मैरिटल आउटकम्स ओवर 13 ईयर्स, जर्नल ऑव मैरेज एंड फैमिली (2004); एस. पी. एस. बालासुब्रमण्यन बनाम सुरुत्तयन अंदल्लि पदयाची, (1992) एआईआर एससी 756.
47. जोसेफ शाइन बनाम भारत संघ, (2018) एआईआर एससी 4898.
48. सुप्रा नोट 4.
49. देवू जी. नायर बनाम केरल राज्य, (2024) आईएनएससी 228.

प्रो. हिमांशु रॉय

न्यायपालिका और राजव्यवस्था का पंथनिरपेक्षीकरण : एक आलोचनात्मक समीक्षा

हमारी राजव्यवस्था के पंथनिरपेक्षीकरण में न्यायपालिका ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

स्वतंत्र भारत की राजव्यवस्था के पंथनिरपेक्षीकरण में न्यायपालिका ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संविधान, संविधान संशोधन अधिनियमों या चुनाव आयोग और अन्य संस्थाओं के कानूनों की व्याख्या ने राजनीति और धर्म के बीच अलगाव को बढ़ावा दिया है; इसने धर्म की अनिवार्यता को परिभाषित किया है और इसे निजी क्षेत्र तक सीमित रखा है। यदि पिछले सात दशकों के न्यायिक निर्णयों का विश्लेषण किया जाए, तो कोई भी इस निष्कर्ष से सहमत हो सकता है। इसे पुष्ट करने के लिए, यहाँ सर्वोच्च न्यायालय के कुछ उल्लेखनीय निर्णयों पर चर्चा की जा सकती है।

धर्म और रीति-रिवाज: एक आंशिक विराम

आरंभिक तौर पर, सर्वोच्च न्यायालय ने 1975 में धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार रूपी मौलिक अधिकार के तहत स्टैनिस्लॉस रेव. बनाम मध्य प्रदेश राज्य [एआईआर 1975 एमपी 163 (166)] में धर्म परिवर्तन के मुद्दे की व्याख्या करते हुए घोषणा की थी कि "चूंकि स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति की है, इसलिए एक की स्वतंत्रता अन्य व्यक्तियों की समान स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं कर सकती है। इसलिए, बलपूर्वक या धोखाधड़ी से धर्म परिवर्तन को दंडित करना इस अनुच्छेद का उल्लंघन नहीं हो सकता" (अनुच्छेद25)[1]। हालाँकि, इसने इस अनुच्छेद की व्याख्या किसी व्यक्ति के दूसरे धर्म में परिवर्तित होने के अधिकार या राज्य के उस अधिकार के रूप में भी की, जिसमें हानिकारक धार्मिक प्रथाओं को प्रतिबंधित किया जा सके। राज्य पुलिस को मंदिरों की रखवाली करने या अपराधों की रोकथाम के लिए कब्रों को खोदने का निर्देश दे सकता है। मूल विचार पंथनिरपेक्ष क्षेत्र को धार्मिक अनुष्ठानों और आस्था से अलग करना था। इसने धर्म को समुदाय की धारणा तक ही सीमित कर दिया और इसके अभिन्न अंग के रुप में रीति-रिवाजों के मनाने पर रोक लगा दी। परन्तु, समस्या यह थी कि न्यायालय ने धर्म को सामुदायिक मानने की विरासत में मिली अवधारणा को खंडित नहीं किया। इसने धर्म को व्यक्तिवादी विश्वास के विषय के रूप में नहीं माना। संविधान सभा का अनुसरण करते हुए, इसने धर्म को समुदाय के आदर्श सिद्धांतों के समूह के रूप में देखना जारी रखा। इसका ध्यान समुदाय और उनके आदर्श सिद्धांतों पर था, न कि व्यक्तियों और उनके व्यवहारों या उनकी स्वतंत्रता और धर्म के बारे में उनकी धारणा पर। इसने 'इस प्रश्न पर निर्णय करने की प्रथा जारी रखी कि क्या कोई प्रचलित धार्मिक व्यवहार धर्म का अभिन्न अंग है या नहीं, यह *उस समुदाय द्वारा तय किया जाता है जो उस धर्म का पालन करता है या नहीं*[2]' दूसरे शब्दों में, इसने धार्मिक मुद्दे का फैसला इस आधार पर किया कि इसका कोई विशेष पहलू उसके धार्मिक समुदाय द्वारा माना जा रहा है या नहीं। न्यायालय ने नागरिकों को अलग-अलग धार्मिक समुदाय के रूप में माना, न कि अलग-अलग व्यक्तिगत धर्मों के धर्मनिरपेक्ष नागरिकों के रूप में। यह अतीत की सामंती

परंपरा और समकालीन समय की उत्कृष्ट पंथनिरपेक्ष दृष्टि के बीच का अर्धमार्ग था।

पंथनिरपेक्षता और धर्म को पृथक करना

न्यायपालिका की एक और रोचक भूमिका समाज की कई ऐसी हानिकारक प्रथाओं को रोकना रही है, जिन्हें पहले धार्मिक अनुष्ठानों के अभिन्न अंग के रूप में किया जाता था। इससे धर्म और समाज को सुधारने में सहायता मिली है। उदाहरण के लिए, कुरैशी मोहम्मद हनीफ बनाम बिहार राज्य [(1975) एससीआर 629 (सीबी): एआईआर 1958 एससी 731] में न्यायालय ने कहा कि 'ईद उल अजहा के हिस्से के रूप में गाय का बलिदान (कुर्बानी) मुस्लिम धर्म का अनिवार्य कर्म नहीं है।'[3] यह धर्म का एक अनिवार्य हिस्सा नहीं है जिसे तब तक अनिवार्य रूप से लागू किया जा रहा था। इस्माइल फारूकी बनाम भारत संघ में, न्यायालय को उन्हें *नमाज के लिए हर जगह बैठने से मना करना पड़ा*। 1988 में, इसने घोषित किया कि 'मुस्लिम धर्म में ऐसा कुछ भी नहीं है जो चुनावी उद्देश्यों के लिए महिलाओं की तस्वीरें लेने पर रोक लगाता हो।' अन्य मामलों में, जैसे *सती, देवदासी आदि पर प्रतिबंध लगाना*, इसने राज्य को उन धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप करने और उन्हें विनियमित करने का अधिकार दिया जो संविधान सभा की भावना के अनुसार सार्वजनिक स्वास्थ्य और नैतिकता के विपरीत थीं। इसने आवश्यक धार्मिक प्रथाओं को उन सब से अलग किया जो आवश्यक नहीं थे, और राज्य को केवल गैर-आवश्यक धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया, विशेष रूप से उन मामलों में जो न्यायालयों द्वारा धर्मनिरपेक्ष गतिविधियों के रूप में वर्गीकृत धार्मिक मामलों के प्रशासन से संबंधित थे। न्यायालयों ने धार्मिक प्रथाओं को दो भागों - आवश्यक और अनावश्यक - में विभाजित करने का एक नया सिद्धांत अपनाया, और आवश्यक को धार्मिक प्रथाओं का हिस्सा माना, और अनावश्यक को हानिकारक माना। अत: इन्हें आदर्श धर्म का हिस्सा होने से वंचित कर दिया गया। इसने घोषित किया कि किसी व्यक्ति के कानूनी अधिकार धर्म से स्वतंत्र होते हैं और धर्म से संबंधित अधिकार धर्म के आवश्यक अंग होने पर निर्भर करते हैं। अनावश्यक भाग को धार्मिक अधिकार नहीं माना जा सकता। जहां कानूनी अधिकार व्यक्तिगत होते हैं, वहीं धार्मिक अधिकार सामूहिक होते हैं। न्यायालय ने तर्क दिया कि किसी व्यक्ति के धार्मिक अधिकार धार्मिक समुदायों से प्राप्त होते हैं। इसने धार्मिक अतिक्रमणों से मुक्त व्यक्तियों के कानूनी, धर्मनिरपेक्ष अधिकार को बहाल किया और समुदाय के धार्मिक अधिकारों को अलग करके निर्धारित किया। इसने उनके गैर-धार्मिक, अनावश्यक भागों को हटा दिया। इसने धार्मिक समुदायों की धार्मिक स्वतंत्रता को मान्यता दी लेकिन व्यक्ति के अधिकारों पर जोर दिया। 1985 का शाह बानो निर्णय एक ऐसा ही मामला था जिसने मुस्लिम पर्सनल कानून को खारिज कर दिया और उसके भरण-पोषण के अधिकार को यथावत रखा।

बुनियादी ढांचे के विकास से संबंधित मुद्दों की एक अन्य श्रेणी में न्यायालयों ने धर्म के झंडे तले उठाई गई बाधाओं को आंशिक रूप से हटा दिया है। अजेज बाशा, एस. बनाम यूनियन ऑफ इंडिया [एआईआर एससी 662 (674): 1968 (1) एससीआर 833] और इस तरह के अन्य मामलों में, इसने सरकार को धार्मिक समुदायों के स्वामित्व वाली संपत्ति का अधिग्रहण करने या कानून के अनुसार संपत्ति का प्रशासन कराने का अधिकार प्रदान किया। दूसरे शब्दों में, न्यायालय ने राज्य को विवाद की स्थिति में या विकास परियोजनाओं के लिए या उनके अकुशल, भ्रष्ट कामकाज के मामलों में संपत्ति के अधिग्रहण और प्रबंधन में हस्तक्षेप करने की अनुमति दी है। लेकिन यह संवैधानिक संशोधन [44 वां संशोधन अधिनियम 1978, अनुच्छेद 30 सी1 (1 ए)] से आगे नहीं बढ़ सका जो अल्पसंख्यकों के पक्ष में भेदभावपूर्ण है। नए प्रावधान में कहा गया है कि "यदि कोई धार्मिक संप्रदाय बहुसंख्यक समुदाय से संबंधित है तो उसे मुआवजे का कोई मौलिक अधिकार नहीं है, लेकिन यदि वह अल्पसंख्यक धार्मिक संप्रदाय द्वारा स्थापित और प्रशासित शैक्षणिक संस्थान से संबंधित है तो उसे इस तरह के अधिकार की गारंटी मौलिक अधिकार के रूप में दी जाती है"[4] इस प्रावधान को शून्य और अमान्य घोषित किया जाना चाहिए था क्योंकि यह संविधान सभा की भावना के खिलाफ था। यह संविधान की भावना के खिलाफ था, जिसमें 1949 में अपने मूल रूप में इस तरह का भेदभावपूर्ण प्रावधान नहीं था। कई मामलों की सुनवाई के दौरान न्यायालयों ने पंथनिरपेक्षता की ऐसी भावना के पक्ष में और अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक राजनीति की विभाजनकारी प्रवृत्ति के खिलाफ बात की है। लेकिन यहां, इस विशिष्ट मामले में (44वां संशोधन) और

राजनैतिक क्षेत्र में इसने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया जो उत्तर-औपनिवेशिक भारत में राजव्यवस्था का एक उलझा हुआ हिस्सा था। पहले धर्म को राजनीति को शुद्ध करने के लिए एक नैतिक उपदेश के रूप में माना जाता था। न्यायालय ऐसी राजनीति के खिलाफ था जो दोनों को मिला देती थी और बाद में चुनावों के दौरान लंपट कृत्यों में बदल जाती थी। उदाहरण के लिए, बोम्मई मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि कोई व्यक्ति या "कोई राजनैतिक दल सरकार चलाने के अपने अधिकार को खो देगा यदि वह धर्म को राजनीति के साथ मिला देता है. कोई भी राजनैतिक दल जो राज्य की सत्ता पर नियंत्रण करना या उसे साझा करना चाहता है, उसे किसी विशेष धर्म का पालन नहीं करना चाहिए

ऐसे कई मामलों में, उदाहरण के लिए, सेंट स्टीफन कॉलेज बनाम दिल्ली विश्वविद्यालय [(1992) 1 एससीसी 558 (पैरा 59): एआईआर 1992 एससी 1630: 1991 सप (3) एससीआर 121], उन्होंने (न्यायालय ने) ऐसे फैसले सुनाए थे जो अल्पसंख्यकों के पक्ष में भेदभावपूर्ण थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि न्यायालयों ने विभिन्न संप्रदायों के बीच बढ़ती उन प्रवृत्तियों को अस्वीकार कर दिया है, जो उन्हें विशेष रूप से हिंदुओं के बीच अल्पसंख्यक धर्मों के रूप में मान्यता देने की याचिका कर रहे थे; फिर भी, कई मौकों पर अल्पसंख्यक धर्मों के पक्ष में पक्षपातपूर्ण फैसले सुनाए गए हैं। सेंट स्टीफन के मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने बहुमत के फैसले में कहा कि "अपने संस्थानों में अल्पसंख्यक उम्मीदवारों को दी जाने वाली वरीयता अनुच्छेद 29 (2) का उल्लंघन है। इस तरह की वरीयता धर्म के निषिद्ध आधार पर संस्थागत भेदभाव है"। हालांकि, न्यायालय ने आगे कहा कि "अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान छात्रों के प्रवेश के लिए अपनी स्वयं की चयन प्रक्रिया अपनाने के लिए स्वतंत्र हैं और उन्हें अपने समुदाय के 50 प्रतिशत छात्रों को प्रवेश देने की अनुमति है"[5] उन्हें शासी निकायों के सदस्यों की नियुक्ति और बर्खास्तगी के लिए विश्वविद्यालयों की अनिवार्य स्वीकृति लेने से भी छूट दी गई। विश्वविद्यालयों को यह भी निर्देश दिया गया कि वे उनके शासी निकायों की नियुक्तियों या उनके कामकाज में हस्तक्षेप न करें। विश्वविद्यालय केवल छात्रों के प्रवेश में उनकी योग्यता, उनकी नियुक्तियों में शिक्षकों की योग्यता या उनकी सेवा शर्तों के मामले में हस्तक्षेप कर सकते थे। इन मुद्दों को छोड़कर विश्वविद्यालयों की शक्ति सीमित थी। इस प्रकार, न्यायालय ने अल्पसंख्यकवाद को कायम रखने के लिए इस एक क्षेत्र को खुला रखा। इस तरह के फैसले उस संवैधानिक उद्देश्य से भटक गए हैं, जिसका तर्क था कि अतीत में प्रताड़ित किए जाने की पृष्ठभूमि में अल्पसंख्यक संस्थानों के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। अब, इसके विपरीत हुआ है। न्यायालय के फैसलों ने अल्पसंख्यकवाद को कायम रखने के लिए द्वार खोल दिए हैं, और इसका एक प्रमुख माध्यम अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान हैं। यह अपरिहार्य था क्योंकि धार्मिक अल्पसंख्यक के आधार पर स्थापित एक शैक्षणिक संस्थान में दूसरों के साथ भेदभाव करने की अंतर्निहित प्रवृत्ति होती है क्योंकि यह सार्वभौमिक कानून और नागरिकता के दर्शन पर आधारित नहीं है। यह बहुसंख्यक समुदाय के विरुद्ध धार्मिक विभाजन को कायम रखता है। यह स्वयं को बहुसंख्यकों के साथ एकीकृत करने के बजाय अलग करता है। यह धार्मिक मतभेद को कायम रखता है जो सदियों से एक अलग विश्व दृष्टिकोण के साथ विकसित हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक व्यक्ति और एक समुदाय को निजी तौर पर अपने धार्मिक विश्वासों का पालन करने की स्वतंत्रता है, लेकिन एक सार्वजनिक कानून जो धार्मिक आधार पर भेदभाव करता है, वह प्रतिगामी है। इसने अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों सहित 'वंचित समूहों' के पक्ष में सुरक्षात्मक-प्रतिपूरक भेदभाव के सिद्धांत के तहत भेदभाव किया है।

राजनीति और धर्म

राजनैतिक क्षेत्र में इसने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया जो उत्तर-औपनिवेशिक भारत में राजव्यवस्था का एक उलझा हुआ हिस्सा था। पहले धर्म को राजनीति को शुद्ध करने के लिए एक नैतिक उपदेश के रूप में माना जाता था। न्यायालय ऐसी राजनीति के खिलाफ था जो दोनों को मिला देती थी और बाद में चुनावों के दौरान लंपट कृत्यों में बदल जाती थी। उदाहरण के लिए, बोम्मई मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि कोई व्यक्ति या "कोई राजनैतिक दल सरकार चलाने के अपने अधिकार को खो देगा यदि वह धर्म को राजनीति के साथ मिला देता है... कोई भी राजनैतिक दल जो राज्य की सत्ता पर नियंत्रण करना या उसे साझा करना चाहता है, उसे किसी विशेष धर्म का पालन नहीं करना चाहिए; क्योंकि, यदि वह दल सत्ता में आ जाता है तो उसके द्वारा अपनाया गया धर्म आधिकारिक धर्म बन सकता है और अन्य सभी धर्मों को गौण या कम अनुकूल स्थान मिल सकता है"।[6] इसने इस तर्क को पुष्ट किया कि राजनीति में उम्मीदवारों या दलों का मूल उद्देश्य व्यक्तियों और समुदायों की धार्मिक मान्यताओं का प्रशासन करने के बजाय अनिवार्य रूप से लोगों का प्रशासन करना है। एक पंथनिरपेक्ष राज्य के तहत राजनीति में किसी पार्टी या व्यक्ति का सार्वजनिक कर्तव्य है 'सभी नागरिकों की भलाई सुनिश्चित करना, चाहे उनकी धार्मिक मान्यताएँ या प्रथाएँ कुछ भी हों।' राजनैतिक उद्देश्यों के लिए धर्म का उपयोग संविधान के ढांचे के तहत धर्मों को दी गई समानता की स्थिति को बाधित करना है। दूसरे शब्दों में, यह धर्मों के प्रति वरीयता और भेदभाव को बढ़ावा देता है, और पंथनिरपेक्ष प्रतिमान को खंडित करता है। अत:, यह सांप्रदायिक और अवैध है। इसलिए, न्यायालय ने प्रत्येक राजनैतिक दल से पंथनिरपेक्षता के संवैधानिक

सिद्धांतों का पालन करने को कहा और इसे कई निर्वाचित जनप्रतिनिधियों को अयोग्य ठहरा दिया, जिन्होंने इसके निर्णय पर ध्यान नहीं दिया, और जिन्होंने धार्मिक आधार पर जनादेश प्राप्त करके चुनाव जीते थे, जिसके परिणामस्वरूप राजनैतिक दलों और उम्मीदवारों में भय पैदा हुआ, जो चुनावी राजनैतिक उद्देश्यों के लिए धर्म का उपयोग करने का प्रलोभन देते हैं। कम से कम, न्यायालय के निर्णयों ने राजनैतिक लाभ के लिए धर्म के बड़े पैमाने पर उपयोग को कम किया है और धर्म को राजनीति से अलग करने में उत्प्रेरक की भूमिका निभाई है। पृथकता, जो भी हो, प्रकृति में सीमित थी। न्यायालय केवल उस घटना के खिलाफ था जिसमें कोई पार्टी किसी धर्म विशेष का पक्षपात करती थी। यह उस प्रक्रिया के विरुद्ध नहीं था जिसमें दल धर्म से जुड़े होते हैं या सुधारों के पक्ष में होते हैं। यह कहीं बेहतर होता अगर न्यायालय उनके संबंधों को तोड़ सकता। फिर भी, सीमित विराम भी एक स्वागत योग्य कदम था।

यहां यह कहा जा सकता है कि संविधान ने अल्पसंख्यक शब्द को परिभाषित नहीं किया है; इसमें केवल भाषा और धर्म को अल्पसंख्यक कहा गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने बाद में इस शब्द को "कोई भी समुदाय जो संख्यात्मक रूप से संबंधित राज्य की जनसंख्या का 50 प्रतिशत से कम है" के रूप में निर्दिष्ट किया[7] यदि यह राज्य का कानून है; यह पूरे भारत के संबंध में अल्पसंख्यक नहीं हो सकता है। केंद्रीय कानून के तहत, इसे पूरे भारत में अल्पसंख्यक होना चाहिए। संक्षेप में, शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जहां अदालती फैसलों ने अल्पसंख्यक संस्थानों की पक्षपातपूर्ण प्रशासनिक और प्रवेश नीतियों को और बढ़ा दिया है। इसने उनके कृत्यों के पंथनिरपेक्षीकरण के बजाय अल्पसंख्यकवाद को कायम रखने को बढ़ावा दिया है। उनके कृत्य, जैसे, उदाहरण के लिए, उनके पाठ्यक्रम को अभी पूरी तरह से पंथनिरपेक्ष बनाया जाना बाकी है। अधिकांश सरकारी मान्यता प्राप्त संस्थानों में इसे पंथनिरपेक्ष बनाया गया है। किन्तु मदरसों, जो कुछ राज्यों जैसे, उदाहरण के लिए, बिहार, उत्तर प्रदेश, में सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त और आंशिक रूप से सहायता प्राप्त हैं, इसे अभी भी पंथनिरपेक्षीकृत नहीं किया गया है। गांधीजी के सुझाव के अनुसार,[8] सरकार की सहायता और मान्यता रोक दी जानी चाहिए थी या फिर न्यायालय इसे अमान्य घोषित कर सकता था। लेकिन आज तक इनमें से कोई भी पूरी तरह से हासिल नहीं हुआ है।

धार्मिक समुदाय अपनी स्थापित पहचान को बनाए रखना चाहते हैं और इसके लिए वे लोकतांत्रिक अधिकारों और चयन की स्वतंत्रता की आड़ में संबंधित सार्वजनिक कानूनों की माँग करते हैं, जो मध्ययुगीन समाज के कानूनों के समान हैं। मध्ययुगीन समाज में, जब विभिन्न सामाजिक स्तरों के विषयों के लिए असमान विभेदक कानून लागू थे, तो कानूनों की एकरूपता के लिए लोकतांत्रिक आंदोलन हुए। जब समान नागरिक संहिता लागू करने की माँग की जाती है, तो विभिन्न बहाने से इसका विरोध किया जाता है। यह हमारी मान्यताओं और कार्यों में समाहित हो गया है कि अल्पसंख्यक अधिकार पंथनिरपेक्षता का अभिन्न अंग हैं, जिन्हें 1909 में औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा संवैधानिक रूप दिया गया था और जिन्हें 1916 में कांग्रेस ने स्वीकार किया था। कांग्रेस के प्रभुत्व वाली संविधान सभा ने इस विचार को शुद्ध नहीं किया; इसने केवल इसके संचालन के पैमाने को कम कर दिया। यह जानती थी कि अल्पसंख्यक अधिकार 'एक निश्चित सीमा तक अलगाव' की ओर ले जाते हैं और 'धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य की अवधारणा' के विपरीत हैं, फिर भी इसने विभाजन के बाद की अवधि में इन अधिकारों को जारी रखा।[9] यदि समान नागरिक संहिता लागू की गई तो अज्ञात भय तथा प्राथमिक एजेंडे के रूप में रियासतों के एकीकरण पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण कांग्रेस नेतृत्व इसमें ही व्यस्त रहा।

धार्मिक समुदाय अपनी स्थापित पहचान को बनाए रखना चाहते हैं और इसके लिए वे लोकतांत्रिक अधिकारों और चयन की स्वतंत्रता की आड़ में संबंधित सार्वजनिक कानूनों की माँग करते हैं, जो मध्ययुगीन समाज के कानूनों के समान हैं। मध्ययुगीन समाज में, जब विभिन्न सामाजिक स्तरों के विषयों के लिए असमान विभेदक कानून लागू थे, तो कानूनों की एकरूपता के लिए लोकतांत्रिक आंदोलन हुए। जब समान नागरिक संहिता लागू करने की माँग की जाती है, तो विभिन्न बहाने से इसका विरोध किया जाता है। यह हमारी मान्यताओं और कार्यों में समाहित हो गया है कि अल्पसंख्यक अधि कार पंथनिरपेक्षता का अभिन्न अंग हैं, जिन्हें 1909 में औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा संवैधानिक रूप दिया गया था

प्रभाव

विभाजन के बाद भारत में लोकतंत्र के गहराने, चुनावी राजनीति और बाजार अर्थव्यवस्था से दो विरोधाभासी प्रतिमान निर्मित हुए हैं: पहला, अल्पसंख्यकों के लिए अधिक अधिकारों और मौजूदा अधिकारों को कायम रखने की राजनैतिक माँग; फिर, समान नागरिक संहिता का विरोध है; इन्हें पंथनिरपेक्षता की पवित्र आधारशिला माना जाता है; हालांकि, इसने अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक द्विआधारी और सामाजिक दरारें पैदा की हैं; दूसरा प्रतिमान, लेकिन पहले के विपरीत, यह है कि बाजार अर्थव्यवस्था ने दशकों से समाज को पंथनिरपेक्ष बना दिया है। जहां राजनीति ने धार्मिक दरारों को चौड़ा किया है, वहीं अर्थव्यवस्था ने व्यापार और श्रम के अलग द्विआधारी पर काम किया है। पहले और दूसरे प्रतिमानों का एक-दूसरे पर प्रभाव समाज और राजनीति पर मिश्रित छाप छोड़ता है। इसके परिणामस्वरूप,

फिर से दो विरोधाभासी रुझान सामने आए हैं: पहला, जामिया मिलिया इस्लामिया और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के अल्पसंख्यक दर्जे को समाप्त करने, और अनुच्छेद 30c1 (1a) और इस प्रकार के अन्य विभेदकारी कानूनों की समाप्ति की माँग की जाती है; दूसरा सच्चर समिति की रिपोर्ट को लागू करने की माँग है। जबकि पहले मामले में मुद्दा धार्मिक कानूनों को खत्म करना है जो भेदभावपूर्ण हैं; दूसरे मामले में, यह ठीक इसके विपरीत है, विभेदकारी कानूनों के विस्तार की माँग। जैसा कि दावा किया गया है, इसका उद्देश्य अल्पसंख्यकों के आर्थिक जीवन को बेहतर बनाना है, जिनकी पहचान बड़े पैमाने पर मुसलमानों से है, ताकि 'समग्र राष्ट्रीय विकास' के लिए उनमें सुरक्षा की भावना पैदा की जा सके। यह उल्टा पड़ गया है। पिछले दशकों में भाजपा की सफलता इसे दर्शाती है। फिर भी, 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के बाद सैयद अहमद खान द्वारा हिंदुओं के साथ राजनैतिक समानता की माँग करते हुए शुरू की गई राजनैतिक प्रक्रिया,[10] आज तक हमें परेशान करती है।

निष्कर्ष

यहाँ यह बात दोहराई जा सकती है कि आधुनिक लोकतंत्रों में, सार्वभौमिक कानून ही शासन के मानक संचालन सिद्धांत हैं। आधुनिक लोकतंत्रों का उदय मध्ययुगीन राजतंत्रों के विरुद्ध हुआ है जो विभेदक कानूनों के साथ काम करते थे। प्रजा के लिए, दोनों दीवानी और आपराधिक, असमान कानून थे, जो प्रजा की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार लागू होते थे।

यहाँ यह बात दोहराई जा सकती है कि आधुनिक लोकतंत्रों में, सार्वभौमिक कानून ही शासन के मानक संचालन सिद्धांत हैं। आधुनिक लोकतंत्रों का उदय मध्ययुगीन राजतंत्रों के विरुद्ध हुआ है जो विभेदक कानूनों के साथ काम करते थे। प्रजा के लिए, दोनों दीवानी और आपराधिक, असमान कानून थे, जो प्रजा की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार लागू होते थे। इस प्रकार, पंथनिरपेक्षता आंशिक रूप से औपनिवेशिक शासन की विरासत बनी हुई है। इसके मूल सिद्धांत थे गैर-धर्मतांत्रिक राज्य, समान आपराधिक कानून, धार्मिक अल्पसंख्यकों की संवैधानिक मान्यता और समान नागरिक कानून (विवाह और उत्तराधिकार को छोड़कर)

इस प्रकार, पंथनिरपेक्षता आंशिक रूप से औपनिवेशिक शासन की विरासत बनी हुई है। इसके मूल सिद्धांत थे गैर-धर्मतांत्रिक राज्य, समान आपराधिक कानून, धार्मिक अल्पसंख्यकों की संवैधानिक मान्यता और समान नागरिक कानून (विवाह और उत्तराधिकार को छोड़कर)। 1946 में, जब सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया के तहत संविधान सभा बुलाई गई थी, तो आम तौर पर इस बात पर सहमति हुई थी कि ऐसे सिद्धांत शासन का तरीका होंगे। इस बात पर भी सहमति हुई कि भारत में राज्य धर्म विरोधी नहीं होगा; बल्कि यह धार्मिक अल्पसंख्यकों को मान्यता देते हुए हर धर्म के साथ समान व्यवहार करेगा। यह सिद्धांत भारतीय पंथनिरपेक्षता को पश्चिम से अलग करता है। उद्देश्य प्रस्ताव में कहा गया था कि 'अल्पसंख्यकों के लिए पर्याप्त सुरक्षा उपाय प्रदान किए जाने चाहिए' जिसने धार्मिक समुदायों के अस्तित्व को पावन किया। धार्मिक समुदाय का विचार राजव्यवस्था को व्यथित करना जारी रखे हुए है। अंबेडकर पंथनिरपेक्ष समान नागरिक संहिता के पक्ष में थे। उन्होंने तर्क दिया था कि दंड संहिता, आपराधिक प्रक्रिया संहिता, संपत्ति हस्तांतरण कानून, पंजीकरण अधिनियम, सीमा अधिनियम, साक्ष्य अधिनियम, सारदा अधिनियम और कई अन्य अधिनियमों ने पहले ही राजव्यवस्था और अर्थव्यवस्था को पंथनिरपेक्ष बना दिया है। केवल शिक्षा का अधिकार और पारिवारिक अधिकार ही बचे हैं, जो "छोटे कोने" हैं, जिन्हें पंथनिरपेक्ष बनाने की आवश्यकता है। देश के विभाजन ने कांग्रेस नेतृत्व को इन "छोटे कोनों" को उसी रूप में अपंथनिरपेक्ष छोड़ने के लिए विवश कर किया, जैसा कि वे तब मौजूद थे।[11] इसने संबंधित कानूनों (समान नागरिक संहिता) को पंथनिरपेक्ष बनाने का काम भविष्य की विधायिका पर छोड़ दिया। यूसीसी पर पिछले दिनों सुप्रीम कोर्ट की सकारात्मक टिप्पणी से उम्मीद है कि आगामी विधायी उपाय, यूसीसी के अधिनियमित और अधिसूचित होने के बाद इस 'छोटे से कोन' के पंथनिरपेक्षीकरण में सहायता मिलेगी।

संदर्भ

1. विस्तृत जानकारी के लिए देखें डी.डी. बसु, *शॉर्टर कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इंडिया*, 13 वां संस्करण, वाधवा एंड कंपनी, नागपुर, 2001, पृ. 328.
2. वही
3. वही, पृ.331.
4. वही, पृ.341.
5. वही, पृ. 346-347.
6. वही, पृ. 6, 336.
7. वही, 349.
8. एम.के. गांधी *कलेक्टेड वर्क्स*, खंड 85, पृ. 328; डी.जी. तेंदुलकर, *महात्मा*, खंड 7, 1953, पृ. 451 देखें। गांधीजी सितम्बर 1946 में ईसाई मिशनरियों के प्रश्नों और सुझावों का तथा 1947 में जाकिर हुसैन के प्रश्नों और सुझावों का उत्तर दे रहे थे।
9. *कांस्टीट्यूइंट असेंबली डिबेट*, खंड 8, पृ. 311.
10. *डॉक्युमेंट्स ऑफ द कम्युनिस्ट मूवमेंट इन इंडिया*, खंड 5, नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1997, पृ. 190.
11. विस्तृत जानकारी के लिए देखें हिमांशु रॉय, *सेक्युलरिज्म ऐंड इट्स कोलोनियल लिगेसी इन इंडिया*, मानक, नई दिल्ली, 2009, अध्याय 4.

अंशु कुमार

जनहित याचिका न्यायपालिका में तदर्थवाद और प्रक्रियाओं का अभाव

समय के साथ जनहित याचिकाएँ, प्रचार हित याचिकाओं में बदल गई। कैसे और क्यों ऐसा हुआ, परिस्थितियों का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

जनहित याचिका (पीआईएल) की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर ध्यान केंद्रित करते हुए, यह शोध पत्र भारत में न्यायपालिका और लोकतंत्र के बीच के अंतरसंबंध का एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसने तर्क दिया गया है कि प्राप्त जनहित याचिका पर विचार करने के लिए व्यापक दिशा-निर्देश हैं, लेकिन इसे दायर करने और निर्णय लेने के लिए सटीक परिभाषित प्रक्रियाओं का अभाव है, जो न्यायपालिका को काफी विवेकाधिकार देता है, जिसके परिणामस्वरूप असंगत निर्णय होते रहे हैं। ऐतिहासिक मामलों और विधिक दृष्टांतों के परीक्षण के माध्यम से, यह लोकतांत्रिक सिद्धांतों को मजबूत करने एवं जवाबदेही सुनिश्चित करने पर पीआईएल के प्रभाव का मूल्यांकन करता है, लेकिन साथ ही निहित स्वार्थों को राहत देने और इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रभावित करने के लिए इसका दुरुपयोग कैसे किया गया है और इसलिए यह प्रचार हित याचिका में बदल गया है, का भी अध्ययन करता है। इसने विभिन्न निर्णयों का अध्ययन करने के लिए सैद्धांतिक कानूनी पद्धति और न्यायपालिका के संस्थानों का अध्ययन करने के लिए नव-संस्थागत दृष्टिकोण का उपयोग किया है। यद्यपि पीआईएल की अवधारणा संयुक्त राज्य अमेरिका में उभरी, लेकिन यह पत्र भारतीय संदर्भ में पीआईएल की अवधारणा को स्थापित करने का प्रयास करता है। यह विभिन्न केस स्टडीज के माध्यम से दिखाएगा कि इसने सत्ता के पृथक्करण को कैसे प्रभावित किया है जो संविधान की मूल संरचना है। भारतीय लोकतंत्र के जीवंत ताने-बाने में, जनहित याचिका सामाजिक न्याय और सुधार के लिए एक शक्तिशाली साधन के रूप में उभरी है, लेकिन साथ ही 'विधायी शून्यता' के नाम पर जनहित याचिकाओं का विस्तृत दायरा कभी-कभी न्यायिक अतिक्रमण का कारण बनता है, जिसमें न्यायपालिका उन भूमिकाओं को भी निभाने लगता है जो कार्यकारी या विधायी शाखाओं के लिए अधिक उपयुक्त होता है। इससे नीतिगत पक्षाघात हो सकता है और निर्वाचित प्रतिनिधियों के लोकतांत्रिक जनादेश को कमजोर किया जा सकता है और इसलिए सत्ता के पृथक्करण के प्राचीन सिद्धांत से भटकाव हो सकता है। इससे भी बढ़कर, जनहित याचिका कार्यवाही की तदर्थ प्रकृति प्रक्रियात्मक सुरक्षा उपायों को दरकिनार कर सकती है और प्राकृतिक न्याय को कमजोर कर सकती है, जिससे उचित प्रक्रिया और कानून के शासन के बारे में चिंताएँ बढ़ सकती हैं। इसके अतिरिक्त, प्रणालीगत मुद्दों को संबोधित करने के लिए जनहित याचिकाओं पर निर्भरता कानूनी और राजनैतिक प्रणालियों के भीतर आवश्यक व्यापक संरचनात्मक सुधारों से ध्यान हटा सकती है।

बीजशब्द: न्यायपालिका, लोकतंत्र, न्यायिक लोकप्रियता, जनहित याचिका, शक्ति का पृथक्करण।

परिचय

हाल के दशकों में, भारतीय उच्च न्यायपालिका ने भारत की सार्वजनिक बहस में एक महत्त्वपूर्ण प्रमुख स्थान ग्रहण किया है। 1975-77 के आंतरिक आपातकाल के बाद, सर्वोच्च न्यायालय और राज्य उच्च न्यायालयों ने न्यायिक संस्थाओं के रूप में महत्त्वपूर्ण प्रभाव प्राप्त किया है। प्राथमिक तंत्र जिसके द्वारा इन न्यायिक शक्तियों को लागू किया गया है, वह जनहित याचिका (पीआईएल) का अधिकार क्षेत्र है। कई उदाहरण

यह प्रदर्शित करेंगे कि कैसे जनहित याचिका अपीलीय न्यायालयों को प्रक्रियात्मक मामलों में महत्त्वपूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करती है जिससे उन्हें अत्यधिक शक्ति वाले पदों को ग्रहण करने में सक्षम बनाया जाता है। लोकतंत्र में न्यायालय के अत्यधिक प्रभाव के बारे में लोगों में चिंता बढ़ रही है, विशेष रूप से जनहित याचिका (पीआईएल) में जवाबदेही की कमी के बारे में। यह स्थिति लोकतंत्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण खतरा है। वी. आर. कृष्ण अय्यर ने 'न्यायमूर्तितंत्र' शब्द गढ़ा (अय्यर, 2003), जबकि रान हर्षल ने 'न्यायतंत्र' शब्द का सृजन किया। (हर्षल, 2004)

न्यायिक सक्रियता के लिए एक संभावित तर्क यह है कि न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे यह सुनिश्चित करें कि न्याय दिया जाए। इस प्रक्रिया के दौरान विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच की सीमाएँ खंडित हो जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन होता है। 1787 के सम्मेलन ने दक्षता बढ़ाने के बजाय मनमाने अधिकार के प्रयोग को रोकने के इरादे से शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत बनाया। इस पृथक्करण व्यवस्था का उद्देश्य टकराव को रोकना नहीं था बल्कि लोगों को अधिनायकवाद से बचाने के तरीके के रूप में टकराव का उपयोग करना था। एक लोकतांत्रिक समाज के लिए एक अटूट स्वायत्त न्यायालय एक अत्यंत आवश्यकता है। अभी विषय यह है कि क्या एक ही संस्था का अत्यधिक प्रभाव लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए लाभदायक है।

न्यायिक लोकलुभावनवाद: सत्ता का खेल या न्याय को सुलभ बनाना?

सरकार की कई शाखाओं के बीच संघर्ष स्पष्टता या अस्पष्टता से उत्पन्न नहीं होता है। यह सत्ता की चाहत का प्रकटीकरण है जहां एक गुट दूसरे पर तब अत्याचार करता है जब उसके पास शक्ति होती है। न्यायालय के पास कानून के किसी भी छूटे हुए हिस्से को भरने की जिम्मेदारी नहीं है क्योंकि कानून बनाने का कार्य पूरी तरह से विधायिका के अधिकार क्षेत्र में है। हालाँकि संविधान का अनुच्छेद 142 सर्वोच्च न्यायालय को उसके समक्ष लंबित किसी भी मामले या मामले में पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक कोई भी डिक्री या आदेश पारित करने का अधिकार देता है। यह उन्हें न्यायिक हस्तक्षेप के लिए महत्त्वपूर्ण उपकरण प्रदान करता है। *किन्तु सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन बनाम भारत संघ* (1998) में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि अनुच्छेद 142 के तहत शक्तियाँ पूरक हैं और इनका उपयोग मूल कानूनों को दरकिनार करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालय ने कहा कि ये शक्तियाँ उपचारात्मक प्रकृति की हैं और इनका उपयोग वैधानिक प्रावधानों को दरकिनार करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। विधायिका और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की घटना न तो असामान्य है और न ही हाल ही में हुई है। जनहित याचिका (पीआईएल) की शुरूआत ने वंचितों के लिए नए अवसर प्रदान किए हैं। हालांकि यह भी कहा गया है कि जनहित याचिका ने न्यायालय को 'लोगों' के नाम पर अपने अधिकार या अधिकार क्षेत्र का विस्तार करने की अनुमति दी है। यह एक प्रवृत्ति है कि लोकलुभावनवाद की चर्चा आम तौर पर राजनीति पर केंद्रित होती है लेकिन यह लेख जनहित याचिका के संबंध में कानून में एक संबंधित वृति की पहचान करता है।

आपातकाल की अवधि के बाद, न्यायपालिका, जो संकट की स्थिति में थी, को अपने सामने आने वाले संभावित खतरे की अनुभूति हुई। परिणामस्वरूप इसने जनहित याचिका (पीआईएल) के माध्यम से लोगों से सीधे अधिकार प्राप्त करने पर विचार किया। न्यायाधीशों ने न्यायालयों में नियुक्तियों में हस्तक्षेप करने की सरकार की क्षमता के सामने अपनी शक्तिहीनता को स्वीकार किया। फलत: उन्होंने ऐसे व्यक्तियों से संपर्क करने का विकल्प चुना, जिनमें निरंकुश सरकार को चुनौती देने और उसे उखाड़ फेंकने की क्षमता थी। न्यायालय ने जरूरतमंद लोगों की मदद करने के लिए अपनी प्रतिबद्धता की सकारात्मक धारणा स्थापित करने के प्रयास में निर्माण श्रमिकों, फुटपाथ निवासियों और कृषकों सहित विभिन्न पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को सहायता प्रदान करने के प्रयास शुरू किए। पहले, न्यायपालिका अक्सर ऐसे निर्णय लेती थी जो आम लोगों के पक्ष में नहीं होते थे और इसके बजाय एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग के हितों का पक्ष लेते थे। किन्तु, अब उन्होंने एक अलग छवि प्रस्तुत करने का फैसला किया है। यह जनहित याचिका (पीआईएल) के उपयोग के माध्यम से प्राप्त किया गया था जिसे न्यायमूर्ति हिदायतुल्लाह ने सामाजिक कार्रवाई याचिका (एसएएल) के रूप मे चिन्हित किया।

फिर, एक बार जब न्यायालय को आवश्यक अधिकार प्राप्त हो गए , तो वह पीछे हट गया और आम जनता के हितों के साथ गंभीर समझौता करने लगा। वर्तमान में यह उद्योगों को बदलने और श्रमिकों को बर्खास्त करने, शिक्षा को एक व्यवसाय के

रूप में देखने और मजदूरों, रेहड़ी-पटरी वालों और रिक्शा चालकों को उनकी आजीविका कमाने के अधिकार से वंचित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाता है। *लिंगेगौड़ा डिटेक्टिव एंड सिक्योरिटी चौंबर प्राइवेट लिमिटेड बनाम मैसूर किर्लोस्कर लिमिटेड के मामले में* सर्वोच्च न्यायालय ने इस तर्क के आधार पर श्रमिकों को न्यूनतम वेतन देने से इनकार करने के निर्णय की पुष्टि की कि श्रम के इस विशेष क्षेत्र को न्यूनतम वेतन अधिनियम के तहत आधिकारिक तौर पर मान्यता नहीं मिली है। यह *एशियाड वर्कर्स मामले में इसके फैसले के बिल्कुल विपरीत* है जब इसने निर्धारित किया था कि निर्माण श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान करने में विफलता संविधान के अनुच्छेद 23 का उल्लंघन है जो मानव तस्करी और बेगार को प्रतिबंधित करता है।

जनहित याचिका की उत्पत्ति

जनहित याचिकाएँ (पीआईएल) पहली बार संयुक्त राज्य अमेरिका (यूएस) में अधिस्थिति (*लोकस स्टैंडी*) के लिए कठोर आवश्यकताओं को कम करने और न्याय की प्राप्ति को सुविधाजनक बनाने के साधन के रूप में प्रस्तुत की गई थीं। 1962 के आरंभ में, क्लेरेंस अर्ल गिदोन ने अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट को एक पत्र लिखा। यह संदेश पेंसिल से लाइन वाले पृष्ठों पर लिखा गया था। इसे एक याचिका के रूप में देखा गया जिसने सार्वजनिक शिकायतों के संबंध में कानूनी कार्रवाई के लिए नए अवसर प्रस्तुत किए। इसने देश के सर्वोच्च न्यायालय और गरीब, वंचित नागरिकों के बीच की खाई को काफी हद तक पाट दिया।

भारत में जनहित याचिका की शुरुआत

भारत में न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अय्यर ने *मुंबई कामगार बनाम अब्दुलभाई मामले* में जनहित याचिका (पीआईएल) का विचार विकसित किया। आज जनहित याचिका (पीआईएल) को भारत में निर्धनता न्यायशास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण पहलू के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह कार्यपालिका को मनमाने ढंग से काम करने से रोकने और

भारत में न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अय्यर ने मुंबई कामगार बनाम अब्दुलभाई मामले में जनहित याचिका (पीआईएल) का विचार विकसित किया। आज जनहित याचिका (पीआईएल) को भारत में निर्धनता न्यायशास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण पहलू के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह कार्यपालिका को मनमाने ढंग से काम करने से रोकने और निष्क्रिय सरकार को प्रेरित करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में कार्य करता है। सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से स्थापित किया है कि कोई भी व्यक्ति जो सार्वजनिक भलाई के लिए वास्तविक चिंता से प्रेरित है उसे उन लोगों की ओर से कानूनी उपाय माँगने का अधिकार है

निष्क्रिय सरकार को प्रेरित करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में कार्य करता है। सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से स्थापित किया है कि कोई भी व्यक्ति जो सार्वजनिक भलाई के लिए वास्तविक चिंता से प्रेरित है उसे उन लोगों की ओर से कानूनी उपाय माँगने का अधिकार है जिन्होंने कानूनी नुकसान का अनुभव किया है लेकिन गरीबी या अन्य सीमाओं के कारण अदालतों तक पहुँचने में असमर्थ हैं। इसलिए पारंपरिक धारणा कि केवल वह व्यक्ति जिसने अपने अधिकारों का उल्लंघन अनुभव किया है, कानूनी कार्यवाही शुरू कर सकता है, अब लागू नहीं होती है। यद्यपि प्राप्त पत्रों/याचिकाओं पर विचार करने के लिए दिशा-निर्देशों का संकलन किया गया है, फिर भी यदि किसी पत्र/याचिका की जांच करने पर यह पाया जाता है कि वह जनहित याचिका दिशा-निर्देशों के अंतर्गत नहीं आती है और उसमें कोई जनहित शामिल नहीं है, तो उसे भारत के माननीय मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित रजिस्ट्रार से अनुमोदन के बाद ही दायर किया जा सकता है। यहां न्यायिक लोकलुभावनवाद की गुंजाइश खुलती है।

उपेंद्र बक्सी ने तर्क दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका में जनहित याचिका (पीआईएल) को सरकार और निजी फाउंडेशन दोनों द्वारा वित्तीय सहायता दी जाती है। पीआईएल मुख्य रूप से सरकारी दमन या दुर्व्यवहार पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय सरकारी निर्णय लेने में जनता की भागीदारी पर जोर देता है। फिर भी, जनहित याचिका भारत के लोगों को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्राप्त सबसे महत्त्वपूर्ण कानूनी अधिकार था। इसे व्यापक रूप से एक परिवर्तनकारी और प्रभावशाली आंदोलन के रूप में मान्यता दी गई थी। (मुखोटी, 1985) न्यायमूर्ति भगवती का तर्क है कि यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि प्रक्रिया न्याय के अधीन है, और न्याय की खोज को कभी भी प्रक्रियागत औपचारिकताओं द्वारा बाधित नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालय न्याय प्रदान करने के अपने अधिकार का उपयोग करने और जनहितैषी नागरिक के पत्र को औपचारिक याचिका के रूप में मानने और उसके अनुसार कार्रवाई करने के लिए प्रक्रिया के तकनीकी मानदंडों की उपेक्षा करने के लिए तत्परता से और बिना किसी नैतिक संदेह के तैयार हो जाएगा। न्यायालय की नई अपनाई गई सक्रिय रणनीति ने विधिक समुदाय के भीतर विभाजन पैदा कर दिया और कई वकीलों और न्यायाधीशों को हैरान कर दिया जिनका मानना था कि यह संवैधानिक ढांचे के विपरीत है। जनहित याचिका को कभी-कभी निजी, राजनैतिक, प्रचार या विकृत हितों से प्रेरित मुकदमा कहा जाता है।

हाशिए पर खड़े लोगों के लिए वकालत करने वाले वैचारिक वादियों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, और न्यायालयों ने उनकी सहायता करने के लिए हस्तक्षेप किया है। *विशाखा* के मामले में, न्यायालय ने कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न को रोकने के लिए कानून बनाने के लिए केंद्र सरकार को निर्देश जारी करने तक की बात कही। इसने स्पष्ट रूप से शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन किया।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा के मामले में यह घोषित किया गया कि अनुच्छेद 21 में वर्णित जीवन के अधिकार में सम्मान के साथ और शोषण के बिना जीने का अधिकार शामिल है। परंतु 1991 के उदारीकरण के बाद यह देखा गया है कि *हेमराज बनाम पुलिस आयुक्त* के मामले में, दक्षिण दिल्ली के छतरपुर के आसपास माल यातायात को कम करने के लिए जनहित याचिका दायर की गई थी लेकिन इसे पूरे दिल्ली शहर में यातायात और संबंधित समस्याओं के उचित संचालन के लिए विस्तारित किया गया था। यह लेख यह दिखाने की कोशिश करता है कि कैसे जनहित याचिका के विधान के माध्यम से न्यायपालिका अपनी शक्ति को बढ़ाने की कोशिश करती है। 17 मई 2006 को हेमराज मामले में भी दिल्ली में साइकिल-रिक्शा पर बड़े पैमाने पर कार्रवाई की गई थी। इन निर्णयों से यह माना गया है कि 1991 में अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक समायोजन के बाद जनहित याचिका की प्रकृति गरीबों के पक्ष से बदलकर पूंजी के पक्ष में हो गई।

सर्वोच्च न्यायालय: एक जन न्यायालय?

सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं को हाशिए पर पड़े और भ्रमित लोगों के लिए अंतिम सहारा माना। न्यायालय का गरीबी से संबंधित मुद्दों को संबोधित करने पर जानबूझकर ध्यान केंद्रित करना विशेष रूप से इसके जनहित न्यायशास्त्र में स्पष्ट है। इसमें एक जनहित क्षेत्राधिकार की स्थापना शामिल है जिसने उन कई प्रक्रियात्मक बाधाओं को प्रभावी रूप से समाप्त कर दिया है जो लोगों को न्यायालय में जाने से रोकती हैं। जनहित याचिकाएँ कार्यकर्ताओं को उन लोगों की ओर से मूल अधिकारों के बारे में सीधे न्यायालय में दावे प्रस्तुत करने में सक्षम बनाती हैं जिनके पास ऐसा करने के साधन नहीं हैं। पिछले कई दशकों में, न्यायालय के पास अपने जनहित याचिका क्षेत्राधिकारों के तहत विभिन्न सामाजिक-आर्थिक अन्याय के लिए उपाय प्रदान करने की व्यापक शक्ति रही है।

परंतु न्यायालय के आलोचकों का तर्क है कि 1990 के दशक से न्यायालय हाशिए के समूहों के अधिकारों की रक्षा के प्रति अपनी निष्ठा से भटक गया है। इसके विपरीत, कई वकील और कानूनी विशेषज्ञ न्यायालय को बड़ी कंपनियों की चिंताओं का पक्ष लेते हुए, और हाशिए के समुदायों की जरूरतों को प्राथमिकता देने की उपेक्षा करते हुए देखते हैं। शोधकर्ता उषा रामनाथन के अनुसार, गरीब और असहाय लोगों को अब न्यायालय से समर्थन नहीं मिलता है। (रामनाथन, 2014) कौन सा साक्ष्य इस धारणा का समर्थन करता है कि न्यायालय आम जनता के कल्याण की रक्षा करने में उदासीन हो गया है? आलोचकों ने सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष मुकदमेबाजी में विभिन्न पक्ष प्रकारों की अलग-अलग सफलता प्रतिशतता पर प्रकाश डाला है, और विशेष रूप से इस बात का उल्लेख करते हुए कि न्यायालय द्वारा किसी मामले में निर्णय सुनाए जाने पर कौन सा पक्ष अधिक बार जीतता है। अपने अधिकारों के आधार पर लोगों द्वारा दायर किए जाने वाले मामलों की सफलता दर में कमी ऐसे संकेत के रूप में देखी जा सकती है कि न्यायालय तक आम लोगों की पहुँच कम होती जा रही है।

यह कथन कुछ परिस्थितियों में वैध हो सकता है, विशेषकर जब ऊपर बताए गए उन अध्ययनों की जांच की जाए जो सीधे सुप्रीम कोर्ट के समक्ष लाए गए जनहित याचिकाओं जैसे मामलों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। परंतु, विशेष अनुमति याचिका (एसएलपी) के रूप में जाने जाने वाले मामलों की एक अलग श्रेणी की जानकारी, जो न्यायालय के कार्यभार का बड़ा हिस्सा है, सर्वोच्च न्यायालय के बारे में एक अलग कहानी प्रदान कर सकती है।

इस अध्ययन से पता चलता है कि सर्वोच्च न्यायालय एक ऐसे न्यायालय के रूप में काम करना जारी रखता है जो, शब्द की न्यूनतम एक व्याख्या में, आम जनता के हितों और चिंताओं का प्रतिनिधित्व करता है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों की मेरी जांच के आधार पर यह स्पष्ट है कि न्यायालय कानूनी विवादों में शामिल कम प्रभावशाली पक्षों, जैसे कि कंपनियों के बजाय लोगों को वरीयता देने के प्रति पक्षपाती है। मेरा तर्क यह है कि प्रवेश के चरण में आम व्यक्ति की अदालत तक पहुंच को प्राथमिकता देकर आम जनता के लिए अदालत के रूप में काम करने का सुप्रीम कोर्ट का दृष्टिकोण अंततः न्याय पाने की उनकी क्षमता को कमजोर करता है।

इस बात पर बहस है कि क्या न्यायालय जिसे 'जन न्यायालय' कहा जाता है, वास्तव में उन लोगों का प्रतिनिधित्व करता है जिनकी यह सेवा करता है। वर्तमान में, न्यायालय जनता के लिए एक मंच के रूप में कार्य करता है जो हर साल हजारों याचिकाकर्ताओं को पहुँच प्रदान करता है और सालाना हजारों सुनवाई करता है। यह उल्लेखनीय उपलब्धि भारत के अंदर और वैश्विक स्तर पर न्यायालय की लोकप्रियता और प्रशंसा में योगदान देती है। लेकिन न्यायालय द्वारा पहुँच को अधिकतम करने पर अडिग जोर सकारात्मक परिणामों की तुलना में अधिक नकारात्मक परिणाम पैदा कर सकता है। न्यायालय द्वारा वंचितों को अधीनस्थ न्यायालयों में उनके अधिकारों के बारे में सूचित करने हेतु स्पष्ट कानूनी दिशा-निर्देश जारी करके न्याय तक उनकी पहुँच को बढ़ाया जा सकता है।

एक तर्क यह है कि न्यायालय के पास यह नियंत्रण करने की क्षमता है कि वह कितनी संख्या में और किस तरह की याचिकाएँ स्वीकार करता है। इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि न्यायालय के पास यह तय करने का पूरा अधिकार है कि वह किसी याचिका को स्वीकार करे या अस्वीकार करे। जनहित याचिका (पीआईएल) को विनियमित करने के लिए नियमों और प्रक्रियाओं की अनुपस्थिति ही न्यायालय की लोकलुभावन प्रकृति में योगदान देती है। हालाँकि प्राप्त पत्रों/याचिकाओं पर विचार करने के लिए दिशानिर्देशों का संकलन है, फिर भी यदि किसी पत्र/ याचिका की जाँच करने पर यह पाया जाता है कि वह जनहित याचिका दिशानिर्देशों के अंतर्गत नहीं आता है और उसमें कोई जनहित शामिल नहीं है, तो उसे भारत के माननीय मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित रजिस्ट्रार से अनुमोदन के बाद ही दायर किया जा सकता है। 'सुविचारित चयन' प्रतिमान का उपयोग, जो कुछ मामलों

को सामान्य कतार से बचने और जल्दी सुनवाई के लिए निर्धारित करने की अनुमति देता है, न्यायालय के संस्थागत उद्देश्यों पर भी चिंताएँ पैदा करता है ।

न्यायालय ने हमेशा मुख्य न्यायाधीश को सर्वोच्च माना है, जिसका अर्थ है कि वे न्यायिक पक्ष में बराबरी के बीच प्रथम स्थान रखते हैं। वे प्रथम स्थान पर इसलिए हैं क्योंकि वे सबसे वरिष्ठ हैं। फिर भी, प्रशासन के संदर्भ में, मुख्य न्यायाधीश के पास संस्था के नेता के रूप में कई अधिकार हैं जिसमें मामलों की सूची निर्धारित करने का अधिकार भी शामिल है। मास्टर ऑफ द रोस्टर शक्ति का उपयोग किसी भी संस्थागत या दार्शनिक सीमाओं के अधीन नहीं है

एक अनुत्तरदायी शक्ति

न्यायालय ने हमेशा मुख्य न्यायाधीश को *सर्वोच्च माना है*, जिसका अर्थ है कि वे न्यायिक पक्ष में बराबरी के बीच प्रथम स्थान रखते हैं। वे प्रथम स्थान पर इसलिए हैं क्योंकि वे सबसे वरिष्ठ हैं। फिर भी, प्रशासन के संदर्भ में, मुख्य न्यायाधीश के पास संस्था के नेता के रूप में कई अधिकार हैं जिसमें मामलों की सूची निर्धारित करने का अधिकार भी शामिल है। मास्टर ऑफ द रोस्टर शक्ति का उपयोग किसी भी संस्थागत या दार्शनिक सीमाओं के अधीन नहीं है। यह शक्ति मुख्य न्यायाधीश को कुछ न्यायाधीशों को मामले आवंटित करके न्यायालय के परिणामों को आकार देने के लिए महत्त्वपूर्ण अधिकार देती है। न्यायाधीश की पहचान, व्यक्तिगत विश्वास, इतिहास और प्रशिक्षण सभी का न्यायालय के परिणामों पर प्रभाव पड़ता है। मुख्य न्यायाधीश इस अधिकार का उपयोग कैसे करते हैं, इस बारे में कोई विशेष निर्देश न होने के कारण, न्यायाधीशों को मामलों के आवंटन के बारे में बहुत कम पारदर्शिता और निगरानी है। मास्टर ऑफ द रोस्टर प्राधिकरण को चुनौती देने वाली याचिकाओं में इस मुद्दे को व्यक्त किया गया था। चार न्यायाधीशों ने 2018 की प्रेस कॉन्फ्रेंस में वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए मुख्य न्यायाधीश द्वारा अधिकार के संभावित दुरुपयोग के बारे में अपनी चिंता व्यक्त की।

रोस्टर के मास्टर का प्राधिकार न्यायालय के लिए कम से कम दो मामलों में संरचनात्मक चुनौती प्रस्तुत करता है। आरंभ में, यह शक्ति अनियंत्रित होती है और इसके उपयोग को निर्देशित करने वाले सिद्धांतों पर स्पष्टता का अभाव होता है। इस कारक के कारण, अधिकार के उपयोग के लिए कम जिम्मेदारी होती है, जो विशिष्ट मामलों में दुरुपयोग की संभावना और व्यापक अर्थों में मुख्य न्यायाधीश के चुने हुए परिणामों के साथ संरेखित करने के लिए जानबूझकर तैनाती की अनुमति देता है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास सत्ता के उपयोग में खुलेपन और उत्तरदायित्व के सिद्धांतों के माध्यम से स्थापित होता है, न कि प्रभावशाली लोगों पर अंध विश्वास के माध्यम से। *शांति भूषण बनाम भारत के सर्वोच्च न्यायालय* के मामले में याचिकाकर्ताओं ने मुख्य न्यायाधीश के अधिकार को सीमित करने के लिए संस्थागत प्रक्रियाओं की स्थापना के लिए तर्क दिया। उन्होंने तर्क दिया कि रोस्टर बनाने का अधिकार केवल मुख्य न्यायाधीश के बजाय कॉलेजियम के पास होना चाहिए। *अशोक पांडेय बनाम भारत के सर्वोच्च न्यायालय* के मामले में, याचिकाकर्ता ने मामलों के आवंटन को नियंत्रित करने के लिए स्पष्ट मानकों और प्रोटोकॉल की स्थापना की वकालत की। विवेकाधिकार के उपयोग के लिए दिशा-निर्देश निर्धारित करने से इसका दायरा सीमित हो सकता है और इसके उपयोग के मूल्यांकन के लिए मानदंड भी मिल सकते हैं।

सत्ता में संतुलन और नियंत्रण की आवश्यकता

एक ही संस्था के भीतर अधिकार का संकेन्द्रण अत्याचार को जन्म दे सकता है। इसलिए सत्ता को अलग-अलग करके नियंत्रित और विनियमित करना आवश्यक है। अरस्तू ने कहा कि एक प्रभावी सरकार की विशेषता सीमाओं से होनी चाहिए। अपनी रचना "स्पिरिट ऑफ लॉज" में राजनैतिक दार्शनिक मोंटेस्क्यू ने नियंत्रण और संतुलन के अस्तित्व को सुनिश्चित करने के साधन के रूप में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत की वकालत की। उन्होंने 'शक्तियों के पृथक्करण' की अवधारणा की शुरुआत की जो बाद में समकालीन लोकतांत्रिक राष्ट्रों के संविधानों के मूल विचार बन गए। जॉन लॉक ने अपनी पुस्तक "सिविल गवर्नमेंट" में शक्तियों को दो शाखाओं में विभाजित किया: कार्यकारी और विधायी। मोंटेस्क्यू ने न्यायपालिका की अवधारणा प्रस्तुत करके लॉक के विचारों को आगे बढ़ाया। इस विचारधारा के अधिवक्ताओं का तर्क है कि यह व्यवस्था के अंदर अत्याचार के उद्भव को रोककर लोकतंत्र की रक्षा करता है। थॉमस हॉब्स संप्रभुता के विभाजन के आलोचक थे और इसका विरोध करते थे। उनका मानना था कि अगर संकट के समय कोई भी निर्णायक विकल्प बनने में सक्षम नहीं होता है तो यह देश की भलाई के लिए हानिकारक है। किसी एक व्यक्ति या संगठन में सत्ता का संकेन्द्रण लोकतंत्र, जो आज के विश्व में लोगों की एक आधारभूत मान्यता है, के बिल्कुल विरुद्ध है।

फिर भी, न्यायिक समीक्षा करने का न्यायालय का अधिकार और जनहित याचिका पर विचार करने की उसकी क्षमता पर लगातार तीखी बहस छिड़ी रहती है। न्यायपालिका का मानना है कि एक निष्पक्ष मध्यस्थ के रूप में, यह हर उस सरकारी या विधायी कार्रवाई को अमान्य करने के लिए बाध्य है जो अनुचित या गैरकानूनी है। परंतु कार्यपालिका और विधायिका इसे अपने अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप के रूप में देखते हैं। अतिक्रमण अनजाने में हो सकता है, हालांकि यह हमेशा मामला नहीं होता है। पिछले कई दशकों में, ऐसे कई आरोप लगे हैं कि न्यायपालिका सरकार की अन्य शाखाओं के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण कर रही है, और एक निश्चित तरीके से

कानूनों की व्याख्या करके अपने अधिकार और दायरे का विस्तार कर रही है। न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिक्रमण के बीच का अंतर दुर्बल है। न्यायालय सहित सरकार की सभी शाखाओं के लिए उन सीमाओं को बनाए रखना आवश्यक है जो उन्हें अलग करती हैं। यह एक सुसंगत और कुशल संचालन में योगदान देता है। न्यायिक समीक्षा कानूनों की वैधता का आकलन करने और कार्यकारी और विधायी शाखाओं द्वारा लिए गए निर्णयों की समीक्षा करने की प्रक्रिया है। इससे कभी-कभी न्यायपालिका और सरकार की अन्य शाखाओं के बीच टकराव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, यद्यपि न्यायिक समीक्षा के अधिकार का उपयोग उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने के लिए किया जाना चाहिए, तथापि इसका उपयोग सरकार के अन्य भागों को आवंटित उचित कार्य को निर्बल करने के लिए कभी नहीं किया जाना चाहिए। संवैधानिक ढांचे की अखंडता और शुद्धता को बनाए रखना, जो संप्रभु प्राधिकरण के विकेंद्रण पर आधारित है, अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। फिर भी, न्यायालय के कई निर्णय दूसरों की निर्दिष्ट जिम्मेदारियों का उल्लंघन करते हैं, फलतः सीमाओं को पार करते हैं और कानून के शासन और न्यायिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों की अवहेलना करते हैं। शीर्ष न्यायालय ने इस तर्क के आधार पर बाध्यकारी निर्देश जारी किए, जिनमें कानून का बाल होता है। इसी तरह, यह विधायी कानूनों को उसी आधार पर शून्य और गैरकानूनी बनाता है। राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) 99वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2014 को शून्य और अमान्य घोषित कर दिया गया था क्योंकि इसे उचित संवैधानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अधिनियमित किए जाने के बावजूद असंवैधानिक पाया गया था। इस संशोधन को संविधान के उस मूल ढांचे को महत्त्वपूर्ण रूप से कमजोर करने वाला घोषित किया गया था जिसमें उच्चतर न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में न्यायिक स्वतंत्रता का महत्त्वपूर्ण पहलू शामिल था।

विशाखा एवं अन्य बनाम राजस्थान राज्य के मामले में कार्यस्थल पर महिलाओं के विरुद्ध यौन उत्पीड़न की घटनाओं को रोकने के लिए निर्देश जारी किए गए। इसके अतिरिक्त, इसने कानून के रूप में अपने स्वयं के विनियमन स्थापित किए जो संसद द्वारा औपचारिक अधिनियम बनाए जाने तक प्रभावी रहेंगे। यद्यपि यह कार्रवाई सकारात्मक थी, लेकिन इसने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन किया क्योंकि कानून बनाने का अधिकार संसद के अधिकार क्षेत्र में आता है। हालांकि संविधान की धारा 142 सर्वोच्च न्यायालय को अपने समक्ष लंबित किसी भी मामले या वाद में पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक कोई भी डिक्री या आदेश पारित करने का अधिकार देती है, यह उन्हें न्यायिक हस्तक्षेप के लिए महत्त्वपूर्ण उपकरण भी प्रदान करता है। *किन्तु सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन बनाम भारत संघ* (1998) में, सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया कि अनुच्छेद 142 के तहत शक्तियां पूरक हैं और इनका उपयोग मूल कानूनों को दरकिनार करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालय ने कहा कि ये शक्तियां उपचारात्मक प्रकृति की हैं और इनका उपयोग वैधानिक प्रावधानों को दरकिनार करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। कई अवसरों पर सर्वोच्च न्यायालय ने न केवल दूसरों के अधिकार का उल्लंघन किया, बल्कि प्रभावी रूप से संविधान को ही संशोधित किया। *दूसरे न्यायाधीशों के मामले* में, नौ न्यायाधीशों वाली एक संवैधानिक पीठ ने, जिसमें दो न्यायाधीशों ने असहमति व्यक्त की थी, उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की कार्यपालिका की शक्ति को छीनकर संविधान को संशोधित करने का अधिकार ग्रहण किया। इस कार्रवाई के पीछे तर्क यह था कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए इन नियुक्तियों को करने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास होना चाहिए। किन्तु इस निर्णय के द्वारा जो संदेश गया वह यह था कि सर्वोच्च न्यायालय कानूनी प्रणाली के सिद्धांतों को संरक्षित करने के बजाय एक निरंकुश शासक की तरह अपने अधिकार का विस्तार करने पर अधिक ध्यान केंद्रित कर रहा था। कानून की अनुपस्थिति या विधायी शून्यता को संबोधित करने के लिए, न्यायालय एक ऐसा कार्य ग्रहण करता है जिसे संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट नहीं किया गया है या जिसका उपयोग संयम से किया जाना चाहिए।

विशाखा और विनीत नारायण मामलों में दिए गए निर्देश अनिश्चित अवधि के अध्यादेश जारी करने के बराबर हैं, एक ऐसा अधिकार जो आमतौर पर संविधान के तहत राज्यपाल या राष्ट्रपति के लिए आरक्षित है, लेकिन केवल उस समय के लिए जब सदन सत्र में नहीं होता है। *वाधवा* मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने विधायिका की जिम्मेदारियों को अपने ऊपर लेने के लिए कार्यकारी शाखा की आलोचना की। परंतु अब सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं भी ऐसी ही भूमिका निभाई है, भले ही उसका अधिकार क्षेत्र पूरी तरह से विधायिका के अधिकार

विशाखा एवं अन्य बनाम राजस्थान राज्य के मामले में कार्यस्थल पर महिलाओं के विरुद्ध यौन उत्पीड़न की घटनाओं को रोकने के लिए निर्देश जारी किए गए। इसके अतिरिक्त, इसने कानून के रूप में अपने स्वयं के विनियमन स्थापित किए जो संसद द्वारा औपचारिक अधिनियम बनाए जाने तक प्रभावी रहेंगे। यद्यपि यह कार्रवाई सकारात्मक थी, लेकिन इसने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लंघन किया क्योंकि कानून बनाने का अधिकार संसद के अधिकार क्षेत्र में आता है। हालांकि संविधान की धारा 142 सर्वोच्च न्यायालय को अपने समक्ष लंबित किसी भी मामले या वाद में पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक कोई भी डिक्री या आदेश पारित करने का अधिकार देती है

क्षेत्र से मेल नहीं खाता हो। जब कानून की व्याख्या करने की बात आती है तो न्यायालयों को बदलाव करने का अधिकार नहीं है।

दूसरे *न्यायाधीशों के मामले* में, उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका से छीन लिया गया था। समान रूप से, एनजेएसी मामले को भी इसी तरह से निरस्त और अमान्य करार दिया गया था। इसलिए यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय ने किस तरह अपने फायदे के लिए शक्तियों के संतुलन को बिगाड़ा है। न्यायिक स्वतंत्रता की आड़ में कार्यपालिका के अधिकार का दुरुपयोग किया गया। अत: सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के उस मौलिक ढांचे को बाधित किया है जिसे शक्तियों का पृथक्करण कहा जाता है। इसके अलावा, यह उन नियुक्त न्यायाधीशों की वैधता का सवाल उठाता है जिनके पास लोकतांत्रिक अनुमोदन नहीं है, जो लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित लोकप्रिय विधायिकाओं द्वारा पारित कानून को निरस्त करता है। न्यायालय ने एनजेएसी को अमान्य कर दिया है जिसे लोकप्रिय जनादेश द्वारा चुने गए और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता वाली विधायिका द्वारा स्थापित किया गया था - इस आधार पर कि यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता का उल्लंघन करता है। सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायाधीशों को नामित करने के अधिकार को छीन करके शक्तियों के संतुलन को बाधित किया।

प्रत्येक संस्था को पृथक्करण की प्रक्रिया द्वारा नियंत्रित किया जाना चाहिए, जो शक्तियों का संतुलन सुनिश्चित करता है। जब असंतुलन होता है तो व्यक्ति महत्त्वपूर्ण पीड़ा का अनुभव करते हैं क्योंकि अधिक प्रभावशाली संस्था सत्तावादी प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करती है। यद्यपि सौम्य या परोपकारी निरंकुशता कुछ सुख प्रदान कर सकती है लेकिन इसे सक्रिय रूप से प्रोत्साहित या समर्थन करना ठीक नहीं है। अपनी समकालीन दृष्टि के अनुसार संविधानवाद यह आवश्यक करता है कि सरकार संविधान में उल्लिखित प्रावधानों के अनुरूप ही काम करे। संविधानवाद प्रत्येक शाखा के अधिकार पर प्रतिबंध लगाकर मनमानी को रोकता है।

संस्थागत आधार की अनुपस्थिति और विशेष न्यायाधीशों के साथ घनिष्ठ संबंध ने पीआईएल को विचारधारा में अनियमित बदलावों के प्रति संवेदनशील बना दिया है। 1980 के दशक के आरंभ में निर्धनता से लेकर 1990 के दशक में पर्यावरणवाद पर बल देने को व्यापक रूप से सबसे उल्लेखनीय घटनाक्रम के रूप में देखा गया है। दोनों मामलों में लोकलुभावनवाद की अंतर्निहित अस्थिरता ने प्राथमिकताओं में महत्त्वपूर्ण बदलाव की अनुमति दी। पीआईएल मुकदमों के संबंध में प्राथमिकता में बदलाव किसी के ध्यान से ओझल नहीं हुआ है

भारत में जनहित याचिका का आलोचनात्मक विश्लेषण

संस्थागत आधार की अनुपस्थिति और विशेष न्यायाधीशों के साथ घनिष्ठ संबंध ने पीआईएल को विचारधारा में अनियमित बदलावों के प्रति संवेदनशील बना दिया है। 1980 के दशक के आरंभ में निर्धनता से लेकर 1990 के दशक में पर्यावरणवाद पर बल देने को व्यापक रूप से सबसे उल्लेखनीय घटनाक्रम के रूप में देखा गया है। दोनों मामलों में लोकलुभावनवाद की अंतर्निहित अस्थिरता ने प्राथमिकताओं में महत्त्वपूर्ण बदलाव की अनुमति दी। पीआईएल मुकदमों के संबंध में प्राथमिकता में बदलाव किसी के ध्यान से ओझल नहीं हुआ है। विद्वानों का एक बड़ा समूह है जिसने इसकी आलोचना की है - विशेष रूप से गरीबों को पीआईएल के विमर्श के प्राथमिक केन्द्र से हटाने के लिए।

जनहित याचिका के बारे में आलोचना की दो प्राथमिक धाराएँ परिणामवादी आलोचना और संस्थागत आलोचना हैं। पहले परिप्रेक्ष्य का मुख्य बिंदु उपेंद्र बक्सी द्वारा संक्षेप में वर्णित किया जा सकता है, जो उदारीकरण के बाद की जनहित याचिका को 'न्यायिक सक्रियता का संरचनात्मक समायोजन' (बक्सी, 1999) के रूप में वर्णित करते हैं। उनके अनुसार, 1990 के दशक के दौरान राजनैतिक अर्थतंत्र में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जनहित याचिका के गुणधर्मों में परिवर्तन हुए। उषा रामनाथन इसी मुद्दे पर अधिक सूक्ष्म दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, जिसमें बताया गया है कि 1990 के दशक के अंत तक, हाशिए पर खड़े और वंचित व्यक्ति, जिन्हें संवैधानिक और कानूनी अधिकारों से युक्त करने का इरादा था, उन्हें न्यायालय से समर्थन नहीं मिला। (रामनाथन, 2002) इसी तरह, वरुण गौरी जनहित याचिका के लाभार्थियों का एक मात्रात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने कहा कि बुनियादी अधिकारों से जुड़े कानूनी मामलों में सफलता की संभावना तब बहुत अधिक होती है जब दावा करने वाला व्यक्ति हाशिए पर खड़े समूह की तुलना में विशेषाधिकार प्राप्त सामाजिक समूह से संबंधित होता है। यह सामाजिक गतिशीलता में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव को दर्शाता है जो जनहित याचिका के प्रारंभिक उद्देश्य और 1980 के दशक में देखी गई तुलनात्मक सफलता दरों से अलग है। (गौरी 2011)

यह तर्क प्राय: अंतर्निहित प्रक्रियात्मक अस्थिरता के संदर्भ में जनहित याचिका के इन दो चरणों के बीच महत्त्वपूर्ण संगति को स्वीकार करने में विफल रहता है। यह विश्लेषण बार-बार जनहित याचिका के प्रक्षेप पथ में व्यवधानों को उजागर करता है और राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर इसके ध्यान में महत्त्वपूर्ण बदलावों पर जोर देता है। परंतु यह एक आवश्यक अन्वेषण का उत्तर देने में विफल रहता है - भारत में 'नव-उदारवाद' को बढ़ावा देने में जनहित याचिका न्यायालय इतने सफल क्यों रहे हैं?

1980 के दशक के प्रारंभ से दृष्टांत-स्थापित करने वाले पीआईएल मामले सामान्य विधि के निर्णय की प्रक्रियात्मक सीमाओं से भटक गए - जैसे कि स्थिति, विरोधात्मक प्रक्रिया, तथ्य-खोज और

न्यायालयी उपचार। पीआईएल पर अधिकांश साहित्य ज्यादातर परिणामों पर केंद्रित रहा है जिसके फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला गया है। पीआईएल के साथ समस्या दोहरी है। सबसे पहले, यह बदलते वैचारिक परिदृश्य के कारण अनुचित परिणाम उत्पन्न करने के लिए प्रवण है। दूसरे, यह न्यायिक प्रक्रिया को दुर्बल करके इस प्रक्रिया को और सहज बनाता है। वेबर के अनुसार, इसका परिणाम समकालीन विधि, जो तार्किक और औपचारिक तर्कसंगतता की विशेषता से युक्त है, की आवश्यक नींव से जानबूझकर विचलन था। इस संदर्भ में तर्कसंगतता मानदंडों के आधार पर निर्णय लेने के कार्य को संदर्भित करती है जिसे समान परिस्थितियों में सार्वभौमिक रूप से लागू किया जा सकता है।

विचार के कुछ और पहलू भी हैं जिन्हें पीआईएल की संस्थागत आलोचना कहा जाता है। ये पहलू पीआईएल के साथ जुड़े विवादों की पहचान करते हैं - न केवल इसके वैचारिक परिवर्तनों के संदर्भ में, बल्कि इसकी न्यायिक प्रक्रियाओं में भी। सर्वोच्च न्यायालय के अंदर से ही पीआईएल की यह आलोचना संस्थागत आलोचना का एक उदाहरण है। जनहित याचिका (पीआईएल) के अधिकार क्षेत्र को औपचारिक बनाने की बार-बार अनिच्छा के तर्क को प्रताप भानु मेहता के इस कथन से सबसे अच्छी तरह से स्पष्ट किया जा सकता है कि भारत के न्यायालयों की वैधता और अधिकार मुख्य रूप से एक अच्छी तरह से परिभाषित और सुसंगत संवैधानिक ढांचे की कमी से उत्पन्न होते हैं। (मेहता, 2007)

निष्कर्ष

जनहित याचिका ने भारत में लोकतंत्र और न्यायपालिका को मजबूत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने नागरिकों को सरकार और अन्य संस्थाओं से न्याय और जवाबदेही माँगने का अधिकार दिया है। फिर भी, जनहित याचिकाओं का व्यक्तिगत, प्रचार या राजनैतिक एजेंडे के लिए दुरुपयोग किए जाने की भी चिंता है जिससे न्यायिक अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण हो सकता है। जनहित याचिका के माध्यम से न्यायपालिका ने अपनी शक्ति का विस्तार किया है और अन्य संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करके निरंकुश बन गई है, और इस प्रकार संविधान में निहित शक्ति के पृथक्करण का उल्लंघन किया है। जनहित याचिका के माध्यम से शक्ति का प्रयोग करने से न्यायपालिका एक लोकलुभावन संस्था में बदल गई है। यह तर्क दिया गया है कि जनहित याचिकाओं को स्वीकार या अस्वीकार करने की कोई निश्चित प्रक्रिया नहीं है, हालांकि इससे संबंधित दिशा-निर्देश हैं। यह न्यायाधीशों की बुद्धि पर निर्भर करता है और इस प्रकार प्लेटोनिक दार्शनिक राजा की ओर अग्रसर हो रहा है। यह तर्क दिया गया है कि जनहित याचिकाओं को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए प्रक्रियात्मक सीमा होनी चाहिए जो न्यायपालिका को अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करने से रोकेगी और इस प्रकार संवैधानिकता को बनाए रखेगी। यह भी सुझाव दिया गया है कि मामलों के कम्प्यूटरीकृत आवंटन के लिए प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. बक्सी, उपेंद्र (1999). 'न्यायिक सक्रियता का संरचनात्मक समायोजन, *सुप्रीम कोर्ट में जनहित याचिका पर* (संपादित), नई दिल्ली: लिप्स प्रकाशन.
2. गौरी, वरुण (2009). 'भारत में जनहित याचिकाएँ: अतिशयोक्ति या अल्प-उपलब्धि?', विश्व बैंक नीति अनुसंधान कार्य पत्र , खंड19 , संख्या 5109, पृष्ठ 21-33.
3. हर्षल, रॉन (2004). *न्यायतंत्र की ओर : नए संविधानवाद की उत्पत्ति और परिणाम. कैम्ब्रिज*: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. अय्यर, वी.आर. कृष्णा (2003). 'न्याय की गुणवत्ता पर कोई असर नहीं पड़ा है', द *इंडियन एक्सप्रेस*, 27 नवंबर 2003.
5. मेट, मनोज (2016). 'वैश्वीकरण, अधिकार और भारत के सर्वोच्च न्यायालय में न्यायिक समीक्षा', *वाशिंगटन इंटरनेशनल लॉ जर्नल*, खंड 25, संख्या 643, पृष्ठ 13-15
6. मेहता, प्रताप भानु (2007). 'न्यायिक संप्रभुता का उदय'. *जर्नल ऑफ डेमोक्रेसी.* खंड 18, संख्या 2, पृ. 70-83.
7. रामनाथन, उषा (2014). 'इन द नेम ऑफ द पीपल: द एक्सपेंशन ऑफ ज्यूडिशियल पावर', द *शिफ्टिंग स्केल ऑफ जस्टिस: द सुप्रीम कोर्ट इन नियो-लिबरल इंडिया* (संपादक). नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान
8. *अशोक पांडे बनाम भारत का सर्वोच्च न्यायालय*, (2018) 5 एससीसी 341
9. *बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ*, (1984) 3 एससीसी 161
10. *सेंटर फॉर पीआईएल एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य*, (2011) 4 एससीसी 1
11. *डीसी वाधवा बनाम बिहार राज्य*, (1987) 2 एससीसी 579
12. *हेमराज बनाम पुलिस आयुक्त*, (1999) 2 एससीसी 213।
13. *लिंगेगौड़ा डिटेक्टिव एंड सिक्योरिटी चौंबर प्राइवेट लिमिटेड बनाम मैसूर किर्लोस्कर लिमिटेड* (2006), 5 एससीसी 180
14. *मुंबई कामगार सभा बनाम अब्दुलभाई फैजुल्लाभाई एवं अन्य* (1976) 3 एससीसी 832
15. *सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड बनाम भारत संघ*, (1993) 4 एससीसी 441
16. *सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड एसोसिएशन और अन्य बनाम भारत संघ*, (2015) 5 एससीसी 1.
17. *सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन बनाम भारत संघ* (1998), 4 एससीसी 409
18. *शांति भूषण बनाम भारत का सर्वोच्च न्यायालय*, (2018) 8 एससीसी 396
19. *विनीत नारायण बनाम भारत संघ*, (1996) 2 एससीसी 1999
20. *विशाखा एवं अन्य बनाम राजस्थान राज्य*, (1997), 6 एससीसी 241
21. *सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड बनाम भारत संघ*, (1993) 4 एससीसी 441
22. *सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड एसोसिएशन और अन्य बनाम भारत संघ*, (2015), 5 एससीसी 1
23. *शांति भूषण बनाम भारत का सर्वोच्च न्यायालय*, (2018) 8 एससीसी 396

औपनिवेशिक कानूनों के अंत का आरंभ

रामानन्द शर्मा

प्रो. मनोज सिन्हा

हमारे यहाँ आज भी ऐसी कई विधियाँ हैं जिनकी जड़ें भारत में नहीं हैं। ऐसे कानूनों से मुक्ति अपरिहार्य है। नई आपराधिक विधियाँ एक शुरुआत भर हैं

समाज के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप कानून समाज की अवधारणा को समग्रता के साथ प्रतिबिंबित करता है। भारतीय समाज की प्रगति के साथ-साथ तेजी से बदल रही तकनीक को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि कानून भी बदलते समय के अनुरूप स्वयं को पुनर्परिभाषित करे। हालाँकि इस दौरान यह भी उतना ही आवश्यक है कि कानून के मूल मूल्य और उद्देश्य अक्षुण्ण बने रहें।

15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्ति तथा वर्ष 1950 में अपना संविधान निर्मित करने के बाद भी हमारे देश के सम्मुख यह प्रश्न बार-बार उठता रहता है कि हमारी वर्तमान कानून व्यवस्था में शामिल अधिकांश कानूनों का निर्माण आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व औपनिवेशिक काल में ही किया गया था। ऐसे में यह प्रश्न पूछना नितांत आवश्यक है कि क्या वे भारत की संस्कृति और स्थानीयता के साथ न्याय करने में पूरी तरह सक्षम हैं?

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि ब्रिटिश सत्ता द्वारा निर्मित इन औपनिवेशिक कानूनों का मूल उद्देश्य भारतीयों को न्याय प्रदान करने के बजाए एक सशक्त दंड-विधान निर्मित करके भारतवासियों के ऊपर शासन करना था।[1] चिंता की बात यह है कि आजादी की 77वीं वर्षगाँठ मनाने के बावजूद गुलामी के दिनों में बनाए गए ये कानून अभी तक चलते आ रहे हैं। इन आपराधिक कानूनों की कठोर प्रकृति सामान्य नागरिकों के मन में पुलिस के प्रति एक भय पैदा करती है। यह भय उस सुरक्षा और विश्वास की भावना को कम करता है जो कानून को लागू करने वाले लोगों और सामान्य जनता के बीच के संबंधों का आधार होती है। ग्रामीण इलाकों में आज भी बाबू संस्कृति और नौकरशाही का वर्चस्व कायम है, जहाँ पुलिस अधिकारी के आने पर सुरक्षा की भावना के बजाय लोगों के मन में आशंका पैदा होती है। औपनिवेशिक अतीत से चला आ रहा यह डर आज भी कई लोगों को पुलिस से संपर्क करने, पुलिस स्टेशनों में जाने या कानूनी प्रक्रिया में शामिल होने से रोकता है।

संविधान को अपनाते समय हमने अपनी सांस्कृतिक विरासत के साथ-साथ अमेरिका और ब्रिटेन से लेकर कनाडा तक, दुनिया भर की विविध कानूनी प्रणालियों के ऊपर विचार करते हुए उनके बेहतरीन सिद्धांतों को स्वीकार किया। इसके साथ ही मौलिक अधिकारों के पन्नों पर भगवान राम की छवियों को शामिल करना हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत में अंतर्निहित "राम राज्य" का प्रतीक है। जो वैश्विक आदर्शों के साथ कदम मिलाकर चलने की हमारी प्रतिबद्धता को रेखांकित करता है। यहां तक कि भारतीय सुप्रीम कोर्ट का आदर्श वाक्य, "*यतो धर्मस्ततो जय:*" हिंदू महाकाव्य *महाभारत* से लिया गया है, जिसका अर्थ है "जहां धर्म है, वहां विजय होगी"। भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत में प्राचीन हिंदू वैदिक ग्रंथों और हिंदू शासकों के अनेक अनुकरणीय उदाहरण निहित होने के बावजूद स्वतंत्र भारत की आपराधिक दंड प्रणाली में भारतीयता के अनुरूप कोई व्यापक सुधार नहीं किया गया। हालाँकि देश के मूलभूत कानून में उसकी स्थापना के बाद से अब तक कुल 106 बार संशोधन किया जा चुका है। परंतु आपराधिक कानून अपेक्षाकृत अपरिवर्तित रहे हैं। आपराधिक कानून में बदलाव का प्रस्ताव करने और संशोधनों की सिफारिश करने के लिए कई समितियों के गठन के बावजूद, अभी तक कुछ वैसे ठोस सुधार

नहीं किए गए हैं जिसके कारण हमारी आधुनिक आपराधिक न्याय प्रणाली का अधिकांश भाग आज भी अंग्रेजी कानूनी ढांचे पर ही निर्भर है। इन कानूनों में ब्रिटेन की संसद, लंदन गजट, प्रिवी काउंसिल और ब्रिटिश क्राउन जैसी प्रतिष्ठित संस्थाओं में 475 से अधिक ऐतिहासिक संदर्भ मौजूद हैं, जो हमारी कानून-प्रणाली पर औपनिवेशिक प्रभाव की स्थायी छाप को रेखांकित करते हैं।

तीन नए अधिनियमों का अधिनियमन

अंतत: दिसंबर 2023 को विभिन्न स्तरों की सरकारों, कानूनी विशेषज्ञों और शैक्षणिक संस्थानों के साथ चार वर्षों की व्यापक चर्चा के बाद, हमारी संसद ने आपराधिक विधेयकों के तीन नए अधिनियम पारित किए। इन व्यापक सुधारों की प्रेरणा मौजूदा आपराधिक कानून की औपनिवेशिक विरासत की आलोचना से उपजी है तथा ये संशोधन हमारे कानूनी ढांचे के 'विउपनिवेशीकरण' की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इसे संसद में पेश करते हुए गृह मंत्री अमित शाह ने कहा कि 'इन नए तीन आपराधिक कानूनों की आत्मा, शरीर और विचार शुद्ध भारतीय हैं।'[2] भारतीय न्याय संहिता (BNS) 2023, भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता (BNSS) 2023 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम (BSA) 2023 का हाल ही में अधिनियमन भारत की आपराधिक न्याय प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक *आत्मनिर्भर भारत* के लिए बनाए गए ये नए कानून, भारतीय दंड संहिता (IPC) 1860, दंड प्रक्रिया संहिता (CrPC) 1973 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 का स्थान लेते हैं और डिजिटल युग को स्वीकार करते हुए न्याय प्रदान करने में तेजी लाने का लक्ष्य रखते हैं। इन तीन नए अधिनियमों का उद्देश्य कानूनी प्रावधानों को समेकित करना, प्रवर्तन तंत्र को सुव्यवस्थित करना और अपराधों के आवेदन के संबंध में स्पष्टता बढ़ाना है। इसके साथ ही, ये अधिनियम कानून प्रवर्तन एजेंसियों के लिए जवाबदेही सुनिश्चित करने के साथ व्यवस्था में विश्वास को बढ़ावा देते हुए अधिक नागरिक-अनुकूल कानूनी ढांचा बनाने का प्रयास करते हैं।

आम लोगों के लिए आपराधिक न्याय प्रणाली में परिवर्तन

आपराधिक न्याय प्रणाली का कुशल संचालन सिर्फ अभियुक्त और पीड़ित के दायरे से परे कई महत्त्वपूर्ण संस्थागत बारीकियों में फैला हुआ है, जिसमें प्रथम सूचना रिपोर्ट (एफआईआर), जांच कर्मी और न्यायपालिका भी शामिल हैं। इन अधिनियमों के माध्यम से नीति निर्माताओं ने प्रणालीगत खामियों को दूर करने का प्रयास किया है। जिससे पीड़ितों के लिए पूरी प्रक्रियाओं को सरल व सुव्यवस्थित किया जा सके तथा साथ ही प्रत्येक संस्थागत स्तर पर त्वरित न्याय के लिए एक ठोस जवाबदेही की नीति सुनिश्चित की जा सके।

अपराध को दर्ज करने के विषय में यदि हम जाँच करें तो पाते हैं कि यह बहुत ही चुनौतीपूर्ण कार्य है। प्राथमिक स्तर पर दर्ज की जाने वाली रिपोर्ट ही कई बार खामियों से भरी होती है। एक तथ्य यह भी है कि लोग प्राथमिकी दर्ज कराने से बचते हैं। इसके पीछे कहीं न कहीं कानूनी उलझने और कानून के प्रति अविश्वास का भाव सम्मिलित है।

इसके साथ ही पुलिस अधिकारियों द्वारा प्रथम सूचना रिपोर्ट (एफआईआर) दर्ज करने में अनिच्छा के कारण अक्सर बहुत कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। बीएनएसएस 2023 की धारा 173 द्वारा अनिवार्य जीरो एफआईआर व्यवस्था की शुरूआत इस समस्या का समाधान करती है और लोगों को किसी भी पुलिस स्टेशन पर सहजता से एफआईआर दर्ज करने का अधिकार देती है। इसके अलावा, बीएनएसएस में इलेक्ट्रॉनिक एफआईआर (ई-एफआईआर) के प्रावधान भी शामिल हैं, जो इलेक्ट्रॉनिक तरीकों से एफआईआर करने की सुविधा प्रदान करते हैं। रिपोर्ट दर्ज करने की व्यवस्था को सरल बनाने की दिशा में उठाये गए ये कदम निश्चित ही स्वागत योग्य हैं। ये अपराध को दर्ज करने की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित करके, उसकी रिपोर्टिंग प्रक्रिया के दौरान पीड़ितों व विशेष रूप से महिलाओं को अपराध का पूर्ण विवरण देने संबंधी झिझक, असहजता व अन्य मानसिक परेशानियों से मुक्ति प्रदान करता है।

जांचकर्ताओं की जवाबदेही की सुनिश्चितता

नए अधिनियमों के अनुसार पुलिस द्वारा एफआईआर दर्ज करने से लेकर, केस डायरी बनाने, आरोप पत्र तैयार करने तथा निर्णय होने तक हर गतिविधि को डिजिटल दस्तावेज के रूप में भी रखने की बात की गई है। नए अधिनियमों के तहत तलाशी और जब्ती प्रक्रियाओं के दौरान वीडियोग्राफी अनिवार्य है, जो बाद में केस रिकॉर्ड का एक अभिन्न अंग बनकर निर्दोष नागरिकों की सुरक्षा करता है। यदि अधिकारी इस प्रक्रिया को नहीं अपनाते हैं तो उनके द्वारा बनाई गई चार्जशीट अमान्य मानी जाएगी। इसके साथ ही साक्ष्यों के उचित संग्रह और संचालन के लिए अधि नियमों में सात साल या उससे अधिक की

आपराधिक न्याय प्रणाली का कुशल संचालन सिर्फ अभियुक्त और पीड़ित के दायरे से परे कई महत्त्वपूर्ण संस्थागत बारीकियों में फैला हुआ है, जिसमें प्रथम सूचना रिपोर्ट (एफआईआर), जांच कर्मी और न्यायपालिका भी शामिल हैं। इन अधिनियमों के माध्यम से नीति निर्माताओं ने प्रणालीगत खामियों को दूर करने का प्रयास किया है। जिससे पीड़ितों के लिए पूरी प्रक्रियाओं को सरल व सुव्यवस्थित किया जा सके तथा साथ ही प्रत्येक संस्थागत स्तर पर त्वरित न्याय के लिए एक ठोस जवाबदेही की नीति सुनिश्चित की जा सके। अपराध को दर्ज करने के विषय में यदि हम जाँच करें तो पाते हैं कि यह बहुत ही चुनौतीपूर्ण कार्य है

संभावित सजा वाले अपराधों से जुड़े अपराध स्थलों पर फोरेंसिक टीम की उपस्थिति अनिवार्य की गई है। प्रस्तावित सुधारों में आपराधिक न्याय प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर एक समय-सीमा तय की गई है। पुलिस शिकायतकर्ताओं को केस की स्थिति से निरंतर अवगत करवाती रहेगी। जिसमें 90 दिनों के भीतर प्रारंभिक रिपोर्ट तथा उसके बाद के अपडेट पंद्रह दिन के अंतराल पर प्रदान किए जाएँगे। इसके अतिरिक्त, आरोप पत्र दाखिल करने के लिए नब्बे दिनों की अनुमानित समय-सीमा प्रस्तावित की गई है, जिसमें विशिष्ट परिस्थितियों में न्यायिक विस्तार की भी संभावना है। अंत में, नए कानून का उद्देश्य एक सौ अस्सी दिनों की अधिकतम समय सीमा के भीतर जांच प्रक्रिया का समापन सुनिश्चित करना है, जिससे निष्पक्ष सुनवाई की शुरुआत शीघ्र हो सके। इन उपायों के कार्यान्वयन से जांच अधिकारियों में जवाबदेही की भावना बढ़ेगी। निर्दोष व्यक्तियों को गलत सजा से बचाने के लिए निवारक उपायों को भी प्राथमिकता दी जाएगी। जिसके कारण वास्तविक अपराधियों की सजा-प्रक्रिया में भी तेजी आ सकती है। इन सभी प्रावधानों से एक अधिक कुशल और सुव्यवस्थित आपराधिक न्याय प्रणाली को बढ़ावा मिलेगा। इसके अतिरिक्त इन सुधारों का कानूनी प्रणाली के भीतर भ्रष्टाचार की सम्भावित आशंकाओं पर भी एक सकारात्मक प्रभाव होगा।

न्यायपालिका द्वारा निर्णय की समय-सीमा

आपराधिक न्याय प्रणाली के तीसरे और अंतिम स्तंभ न्यायपालिका के लिए, BNSS यह अनिवार्य करता है कि आपराधिक मुकदमों को तीन साल की निर्धारित समय-सीमा के भीतर पूरा किया जाए तथा फैसलों को सुरक्षित करने के 45 दिनों के भीतर सुनाए जाए ताकि हमारी न्याय व्यवस्था अधिक प्रभावी तरीके से काम कर सके। भारत के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश डी.वाई. चंद्रचूड़ की पहल पर बड़े पैमाने पर लंबित मामलों को कम करने तथा फैसले करने में तेजी लाने के लिए भी प्रावधान किया गया है।

कानून की कुछ अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं में सामुदायिक सेवा के विकल्पों के साथ-साथ मामूली अपराधों के त्वरित निपटारे की शुरूआत तथा पीड़ितों के बयानों को डिजिटल (ऑनलाइन) रूप से दर्ज करने की सुविधा शामिल है। यौन हिंसा के मामलों में विशेष रूप से प्रावधान किए गए हैं जिसमें महिला मजिस्ट्रेट द्वारा पीड़ित के निवास पर जाकर बयान दर्ज किए जाने की सुविधा भी शामिल है। नए प्रावधानों में 60-दिन की समय-सीमा के भीतर अभियुक्तों को आरोपों की शीघ्र अधिसूचना तथा बहस के बाद 30 दिनों के भीतर न्यायाधीशों द्वारा निर्णय सुनाना अनिवार्य है। इसके साथ-साथ सात दिनों के भीतर आदेशों का ऑनलाइन प्रकाशन भी आवश्यक है। रिकॉर्ड रखने के तरीकों में चल रहे डिजिटलीकरण के प्रयासों के साथ-साथ, बीएसबी, 2023 'दस्तावेजों' के दायरे का विस्तार करता है, जिसमें ईमेल और सर्वर लॉग से लेकर स्थानीय साक्ष्य तक तथा इलेक्ट्रॉनिक और डिजिटल रिकॉर्ड का एक स्पेक्ट्रम भी शामिल है। इन सभी प्रावधानों से साक्ष्य जुटाने की प्रक्रिया का आधुनिकीकरण सम्भव हो पाएगा। इसके अलावा, प्रस्तावित कानून सात साल से अधिक की अवधि के किसी भी सजा को उलटने से पहले पीड़ित की गवाही को अनिवार्य करके नागरिकों के अधिकारों को मजबूत करने का प्रयास करता है। इससे पीड़ित को सुनने का मौका दिए बिना अभियोजन पक्ष की असामयिक वापसी को रोका जा सकेगा, जिसे भारतीय अदालतें पहले ही कई फैसलों में देख चुकी हैं।[3] न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने आपराधिक कानून में इस लुप्त बिंदु को सुधारने के लिए विधायिका को निर्देशित किया था, जहां पीड़ित अभियोजन से हटने के कारण कानून का ध्यान आकर्षित नहीं कर पाता था।[4] उल्लेखनीय रूप से, परिकल्पित बीएनएसएस की धारा 356 में अनुपस्थिति में सुनवाई के लिए एक कठोर प्रोटोकॉल प्रस्तुत किया गया है। जिसका उद्देश्य उन आर्थिक अपराधियों के खिलाफ कार्यवाही में तेजी लाना है, जो अभियोजन से बचने के लिए अदालती अधिकार क्षेत्र का दुरुपयोग करते हैं; ऐसे अपराधियों में दाऊद इब्राहिम, विजय माल्या और नीरव मोदी जैसे प्रतिष्ठित लोग शामिल हैं।

औपनिवेशिक युग के दौरान, ब्रिटिश कानून लागू करने से औपनिवेशिक विषयों के सामाजिक और यौन आचरण के विभिन्न पहलुओं का औपचारिक विनियमन और अभियोजन आवश्यक हो गया। विशेष रूप से धारा 377 ने समलैंगिकता को विचलित और हीन व्यवहार के रूप में वर्गीकृत करके इस प्रवृत्ति का उदाहरण दिया और 'सामान्य प्रकृति के विपरीत शारीरिक संभोग' माने जाने वाले कृत्यों को आपराधिक बना दिया। इस कानूनी व्याख्या ने समकालीन भारतीय समाज में समलैंगिकता की धारणा पर एक अमिट छाप छोड़ी है, जहाँ इसे अक्सर 'अप्राकृतिक' कहकर कलंकित किया जाता रहा है

धारा 377 और लिंग-तटस्थ कानूनों को हटाना

औपनिवेशिक युग के दौरान, ब्रिटिश कानून लागू करने से औपनिवेशिक विषयों के सामाजिक और यौन आचरण के विभिन्न पहलुओं का औपचारिक विनियमन और अभियोजन आवश्यक हो गया।[5] विशेष रूप से धारा 377 ने समलैंगिकता को विचलित और हीन व्यवहार के रूप में वर्गीकृत करके इस प्रवृत्ति का उदाहरण दिया और 'सामान्य प्रकृति के विपरीत शारीरिक संभोग' माने जाने वाले कृत्यों को आपराधिक बना दिया।[6] इस कानूनी व्याख्या ने समकालीन भारतीय समाज में समलैंगिकता की धारणा पर एक अमिट छाप छोड़ी है, जहाँ इसे अक्सर 'अप्राकृतिक' कहकर कलंकित किया जाता रहा है। हमारी न्याय प्रणाली की प्रचलित शब्दावली में भी इनके लिए घृणित जैसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग

होता रहा है। इसके विपरीत, हमारे स्वदेशी साहित्य, कला और धार्मिक परंपराओं सहित पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय कथाएं विभिन्न सामाजिक स्तरों में समलैंगिक प्रथाओं की अधिक सूक्ष्म स्वीकृति का सुझाव देती[7] इस कानूनी विकास की परिणति 2018 में हुई जब सुप्रीम कोर्ट की पांच जजों की बेंच ने धारा 377 को असंवैधानिक करार दिया[8] और BNSS, 2023 के अधिनियमन ने इसके पूर्ण निरसन को प्रभावी किया। यह विधायी सुधार न केवल LGBTQ+ समावेशिता की दिशा में एक मील का पत्थर है, बल्कि लिंग को तटस्थ रूप से देखकर समाज के अभिन्न सदस्यों के रूप में ट्रांसजेंडर व्यक्तियों की व्यापक स्वीकृति को भी दर्शाता है। यह लिंग की पहचान से निरपेक्ष व्यक्तियों की समानता की पुष्टि करता है, जो प्राचीन भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परंपराओं में गहराई से निहित एक सिद्धांत है।[9]

राजद्रोह का नया रूप?

भारतीय दंड संहिता की धारा 124A के अंतर्गत राजद्रोह के प्रावधान, जो आरंभ में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा स्थापित किए गए थे। वे राजनैतिक असहमति को दबाने तथा औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता की वकालत करने वाले उभरते आंदोलनों का प्रतिकार करने के तंत्र के रूप में कार्य किया करते थे। पुनर्गठित विधायी ढांचे के भीतर राजद्रोह के बने रहने की आलोचना प्रचुर मात्रा में की गयी है, जिसका उद्देश्य इस प्रावधान को समय के साथ परिवर्तित करना है। हमारी आज की कानून की धारा 150 के बारीक परीक्षण से पता चलता है कि यह अपने पूर्ववर्ती धारा से काफी अलग है। जहाँ धारा 124A "भारत में विधि द्वारा स्थापित सरकार" के विरुद्ध कार्य करती थी, वहीं धारा 150 (BNSS, 2023), अब अलगाव, सशस्त्र विद्रोह या विध्वंसकारी गतिविधियों को भड़काने या भारत की संप्रभुता या एकता और अखंडता के लिए हानिकारक माने जाने वाले अलगाववादी प्रयासों को अपराध बनाती है। विधायी प्रावधानों में यह परिवर्तन मौजूदा सरकार के खिलाफ होने वाली जनता की असहमतिपूर्ण कार्रवाइयों और देश की संप्रभुता को सँकट में डालने वाले षड्यंत्रों के बीच अंतर स्पष्ट करता है। इसके अलावा, यह अभियुक्त पर उत्तरदायित्व के अधिक कठोर मानक लागू करता है इसके तहत निषिद्ध कृत्यों के पीछे की मन:स्थिति भी महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। नतीजतन, यह विधायी विकास ब्रिटिश शासन के तहत राजद्रोह को नियंत्रित करने वाले दंडात्मक प्रतिमान से एक बिलकुल अलग प्रावधान है। यह परिवर्तन "राज द्रोह" की पूर्ववर्ती अवधारणा से "राष्ट्र द्रोह" की समकालीन धारणा की ओर एक प्रगतिशील बदलाव को रेखांकित करता है। इस परिवर्तन के माध्यम से, राष्ट्र (भारत) को सरकार और उसके पदाधिकारियों से ऊपर सर्वोच्च स्थान पर रखा जाता है, जो ब्रिटिश कानूनों के तहत स्थापित प्राथमिकताओं से अलग है। शुक्रनीति के अनुसार राजा जनता और राज्य का सेवक होता है तथा राज्य का धर्म या वर्तमान संदर्भ में कानून का शासन (भारतीय संवैधानिक सिद्धांत), अन्य सभी बातों से अधिक महत्व रखता है।

हाल ही में लागू किया गया कानून महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा को मजबूत करने के उद्देश्य से एक व्यापक बदलाव का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही संगठित अपराध के मुद्दों पर भी प्रकाश डालता है। हमारा कानूनी ढांचा कठोर दंड देकर अपराधियों द्वारा किए जाने वाले अपराध को रोकने और दुर्व्यवहार की घटनाओं को कम करने का प्रयास करता है। साथ ही यह पुलिस प्राधिकरण के संभावित दुरुपयोग को भी कम करने का काम करता है। ध्यातव्य है कि इन संशोधनों के माध्यम से नाबालिकों के साथ किए जाने वाले अपराधों में सजा का विस्तार किया गया है

महिलाओं, बच्चों के खिलाफ आपराधिक कृत्यों और संगठित अपराधों के खिलाफ सख्त कानून

हाल ही में लागू किया गया कानून महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा को मजबूत करने के उद्देश्य से एक व्यापक बदलाव का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही संगठित अपराध के मुद्दों पर भी प्रकाश डालता है। हमारा कानूनी ढांचा कठोर दंड देकर अपराधियों द्वारा किए जाने वाले अपराध को रोकने और दुर्व्यवहार की घटनाओं को कम करने का प्रयास करता है। साथ ही यह पुलिस प्राधिकरण के संभावित दुरुपयोग को भी कम करने का काम करता है। ध्यातव्य है कि इन संशोधनों के माध्यम से नाबालिकों के साथ किए जाने वाले अपराधों में सजा का विस्तार किया गया है। अब दण्ड की समयावधि सात से बढ़ाकर दस वर्ष कर दी गयी है। इसके अतिरिक्त कई तरह के नियम उल्लंघन के लिए जुर्माने को बढ़ाने के प्रावधान पेश किए गए हैं। पुराने कानून से नया कानून इस मामले में भी अलग है कि अब झूठे बहाने या झांसा देकर यौन संबंध बनाना अपराध की श्रेणी में शामिल कर लिया गया है। इसमें शादी, नौकरी, पदोन्नति या झूठी पहचान के आधार पर धोखा देना सम्मिलित है। इसके तहत 20 साल तक की कैद और सामूहिक बलात्कार की घटनाओं के लिए आजीवन कारावास की सजा का प्रावधान किया गया है। इसके अलावा, महिलाओं को निशाना बनाकर किए जाने वाले छोटे-मोटे अपराध जैसे चेन या मोबाइल छिनने पर विशिष्ट दंड देने की वकालत की गई है। इन सबके बीच सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 18 वर्ष से कम आयु की लड़कियों के खिलाफ किए गए अपराधों के लिए मृत्युदंड के प्रावधान को शामिल किया गया है। इधर घटी लिंचिंग की घटनाओं को सरकार ने गंभीरता से लिया है। इसलिए अब भीड़ द्वारा की जाने वाली हत्या के लिए कठोर दंड की बात की गई है। जिसमें अपराध की गंभीरता के आधार पर मृत्युदंड से लेकर सात वर्ष की कैद या आजीवन कारावास तक की सजा हो सकती है। नये विधायी सुधारों के द्वारा अंतरराष्ट्रीय आपराधिक सिंडिकेट और संगठित अपराध से निपटने के लिए न्यायिक आदेश द्वारा अपराधी घोषित किए गए व्यक्तियों की

संपत्ति जब्त करने के लिए एक सक्षम तंत्र भी बनाया गया है।

प्रगतिशील और संवेदनशील शब्दावली

ये परिवर्तन कानूनी चर्चा में प्रचलित पुरानी और कलंकित करने वाली शब्दावली से दूर एक महत्त्वपूर्ण बदलाव को दर्शाते है। समावेशिता और संवेदनशीलता के लिए प्रयास करते हुए, अधिनियम में 'पागल व्यक्ति' या 'विक्षिप्त दिमाग वाला व्यक्ति' जैसे अपमानजनक शब्दों को 'बौद्धिक विकलांगता वाले' या 'मानसिक बीमारी वाले व्यक्ति' जैसे अधिक सम्मानजनक शब्दों से प्रतिस्थापित किया गया है। यह संशोधन अधिक न्यायसंगत और दयालु कानूनी ढांचे को बढ़ावा देने के लिए एक ठोस प्रयास को रेखांकित करता है। इसके अलावा, भारतीय दंड संहिता की धारा 309 में निहित आत्महत्या का प्रयास करने वाले व्यक्तियों को लक्षित करने वाले दंडात्मक उपायों को निरस्त किया गया है।

विशेष रूप से, बीएनएसएस, 2023 की धारा 195(1) में संशोधन कमजोर वर्ग से संबंधित व्यक्तियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण सुरक्षा प्रदान करता है। इसके अंतर्गत निर्धारित किया गया है कि सम्मन के लिए किसी के निवास स्थान से परे किसी स्थान पर उपस्थिति दर्ज कराने की आवश्यकता नहीं है। यह कानून हाशिए पर पड़े समुदायों के सामने आने वाली चुनौतियों की सूक्ष्मता से पहचान करने पर बल देता है तथा उन्हें कानूनी प्रक्रिया के भीतर सुरक्षा और स्वायत्तता का एक उपाय प्रदान करता है। इस तरह के सुधार हाशिए पर पड़ी कमजोर आबादी द्वारा लगातार झेले जा रहे आपराधिक कृत्यों में कमी लाने और उत्पीड़ित लोगों के लिए राहत और मदद के उद्देश्य को दृढ़ता से व्यक्त करते हैं।

विउपनिवेशीकरण: प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र से समानताएँ

विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया कोई एक दिन की घटना नहीं है क्योंकि उनिवेशिकरण भी किसी एक क्षण घटित नहीं होता। इसीलिए उपनिवेशवाद से पीड़ित देशों में विउपनिवेशीकरण एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है। जो किसी बड़ी घटना के बजाय धीरे-धीरे सामने आता है। यह प्रक्रिया प्रतीकात्मक इशारों या विधायी सुधारों से आगे बढ़ती है। इसके लिए भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों स्तरों पर व्यापक परिवर्तनों की आवश्यकता होती है, जिसमें कानून प्रवर्तन और कारावास प्रणालियों सहित संस्थागत ढाँचों से औपनिवेशिक प्रभाव के अवशेषों को मिटाना शामिल है। आपराधिक कानून के संदर्भ में, विउपनिवेशीकरण के लिए एक ठोस पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि यह अब उपेक्षित समुदायों जैसे कि दलितों, महिलाओं, मुसलमानों, समलैंगिक, ट्रांसजेंडर व्यक्तियों और राजनैतिक विरोधियों के खिलाफ दमन के उपकरण के रूप में काम नहीं करता है।[10] नए विधायी उपायों का कार्यान्वयन उपनिवेशवाद के उन्मूलन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। जिसका प्रतीक तीसरे लिंग की मान्यता, लिंग-तटस्थ कानूनों को अपनाना और राजद्रोह एवं सहमति से गैर-मानक यौन गतिविधियों से संबंधित पुराने कानूनों का उन्मूलन है। नागरिकों के लिए प्रक्रियाओं को सुव्यवस्थित करके और सरकारी संस्थाओं पर अधिक दायित्व और जवाबदेही लागू करके, प्रशासन आपराधिक न्यायशास्त्र के दायरे और नागरिक-अधिकार को फिर से व्यवस्थित करना चाहता है। यह केवल शासन-केंद्रित मॉडल से एक ऐसे मॉडल में परिवर्तित हो रहा है जो जनता के सशक्तिकरण और उनकी सक्रिय भागीदारी को प्राथमिकता देता है। यह बदलाव कानूनी प्रक्रियाओं को लोकतांत्रिक बनाने और समावेशिता, जवाबदेही व नागरिक-केंद्रित भारतीय शासन के सिद्धांतों के साथ न्याय के अधिक न्यायसंगत और उत्तरदायी ढांचे को बढ़ावा देने के व्यापक प्रयास को रेखांकित करता है। हालिया विधायी सुधार प्राचीन भारतीय कानूनी प्रतिमानों के साथ स्पष्ट समानताएं प्रदर्शित करते हैं, विशेष रूप से प्रायश्चित की अवधारणा को। प्रायश्चित और सामुदायिक सेवा जैसे सकारात्मक बदलाव समकालीन कानूनी ढाँचों के भीतर नए परिवर्तनों के उदाहरण हैं। ये उपाय प्रकारांतर से संशोधित नामकरण के साथ लागू किए गए हैं। जो भारत के विचार को स्वीकार करते हैं और पूर्ववर्ती औपनिवेशिक 'दंड' (दंड) प्रतिमान के स्थान पर 'न्याय' (न्याय) के लोकसम्मत विचार को धारण करते हैं।[11] याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र में निहित, प्रायश्चित्त की एक प्रक्रिया शामिल है। जिसमें अपराधी स्वेच्छा से पश्चाताप के करते हैं। इससे उनके नैतिक मानदंडों की शुचिता को स्वीकार किया जाता है।[12] यह प्राचीन न्यायशास्त्रीय सिद्धांत आधुनिक कानूनी प्रथाओं जैसे कि कम से कम छह अपराधों में प्ली बारगेनिंग की सुविधा और सामुदायिक सेवा जैसे लचीले दंड विधान की स्वीकृति देता है। इसके अलावा, नए विधायी प्रावधानों में छोटे अपराधों में पहली बार अपराध करने वालों के प्रति नरमी दिखायी गयी है, जबकि साथ ही साथ विचाराधीन कैदियों की बढ़ती आबादी के बारे में भी ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए, धारा 293 (बीएनएसएस, 293) प्ली बार्गेनिंग प्रक्रियाओं में मामलों के निपटान संबंधित है। इनमें पहली बार अपराध करने वालों के लिए दंड में काफी कमी की गई है।

आलोचनाएँ और आगे की राह

हालाँकि, ये विधायी पहल आपराधिक न्याय सुधार की दिशा में एक ठोस प्रयास का प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन ये पूरी तरफ दोषमुक्त नहीं हैं। इसलिए इनके विषय में गम्भीर चर्चा-परिचर्चा की आवश्यकता महसूस की जा रही है। उदाहरण के लिए, सरकार ने पहले मलीमथ समिति की सिफारिशों पर आपराधिक कानूनों को समकालीन सामाजिक आवश्यकताओं के साथ जोड़ने का प्रयास किया था।[13] लगभग चार वर्षों के लंबे परामर्श के बावजूद, विधायी अधिनियमों में मसौदा तैयार करने की बहुत सी त्रुटियाँ अभी भी ज्यों की त्यों हैं। इसके अलावा, माननीय सर्वोच्च न्यायालय और विधि आयोग की सिफारिशों द्वारा उल्लिखित आपराधिक न्यायशास्त्र के व्यापक निकाय को पर्याप्त रूप से शामिल करने में विफलता चिंतनीय है। अफसोस की बात है कि वैवाहिक बलात्कार की मान्यता और लिंग-तटस्थ व्यभिचार कानूनों के कार्यान्वयन आदि विषयों को अनदेखा किया गया है। धारा 377 के तहत गैर-सहमति वाले समलैंगिक संभोग को अपराध से मुक्त करने से इन नए अधिनियमों में पीड़ितों को

न्याय के लिए कोई प्रावधान नहीं रह जाता है। इस विषय पर संसद में गंभीर चर्चाओं की नगण्यता और सार्थक सार्वजनिक परामर्श की कमी के कारण इसकी खमियाँ ठीक नहीं हो पाई हैं। विशेष रूप से चिंता की बात यह है कि कानून प्रवर्तन एजेंसियों द्वारा न्यायिक हिरासत में भेजे जाने से पहले किसी आरोपी व्यक्ति को हिरासत में रखने की अवधि में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की गई है, जिसकी अवधि अब 15 दिनों से बढ़ाकर 60 दिनों तक कर दी गई है। कथित अपराध की गंभीरता के आधार पर इस अस्थायी सीमा को बढ़ाने का निर्णय कानून प्रवर्तन की अनिवार्यताओं और नागरिक स्वतंत्रता की सुरक्षा के बीच नाजुक संतुलन के बारे में मौलिक प्रश्न उठाता है। इसके अलावा, पुराने कानूनों के शाब्दिक पाठ्य प्रावधानों को पूरी तरह से अपनाने के कारण इसे कानूनी विद्वानों और कानूनी-पेशेवरों, दोनों की तीखी आलोचना प्राप्त हुई है। इससे इसकी मौलिकता में कमी की बात विद्वान उठाते रहते हैं। हालाँकि इसे कुछ संशोधनों के माध्यम से आसानी से ठीक किया जा सकता है। इन विधायी अधिनियमों द्वारा प्रस्तावित व्यापक सुधारों के बावजूद, पुलिस अधिकारियों, फोरेंसिक विभागों, विश्वविद्यालयों और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के व्यापक प्रशिक्षण की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को काफी हद तक अनदेखा किया गया है। कहना न होगा कि इसमें सकारात्मक कार्यान्वयन की आवश्यकता है। इसके अलावा हमारी संसद भारतीय न्याय प्रणाली को विकेंद्रीकृत करने के लिए न्याय पंचायतों को संस्थागत बनाने का एक महत्त्वपूर्ण अवसर तैयार करने में विफल रही है। न्याय पंचायतों के पास अनुच्छेद 40 के तहत एक संवैधानिक आधार हैं और वे भारतीय न्यायशास्त्र के लिए आवश्यक हैं। इनमे गांवों में न्याय देने के लिए पाँच या अधिक सदस्यों का एक बोर्ड शामिल है। उल्लेखनीय है कि इस मामले पर कानून का मसौदा तैयार करने के लिए वर्ष 2004 में उपेन्द्र बक्शी के नेतृत्व में एक समिति गठित की गई थी और उसके बाद से विधि आयोग की कई रिपोर्टों में इसे अपनाने की सिफारिश भी की गई है।[14]

निष्कर्ष

भारतीय संसद द्वारा हाल ही में किए गए विधायी प्रयास केवल संशोधनों से कहीं अधिक हैं। वे भारत के कानूनी परिदृश्य में एक महत्त्वपूर्ण शिफ्ट को रेखांकित करते हैं। हमारे भारत के सम्मानित मुख्य न्यायाधीश के शब्दों में, 'कानून और उसके कार्यान्वयन की यात्रा निरंतर है। इसका कोई अंतिम बिंदु नहीं है तथा इसमें सदा विकास की प्रचुर सम्भावनाएँ रहती हैं। सकारात्मक परिवर्तन को अपनाना, हमारे कानूनी ढांचे को विकसित करना और इसे समय की अनिवार्य आवश्यकताओं के साथ जोड़ना हमारा कर्तव्य है। इन नए कानूनों का आगमन उपनिवेशवाद के उन्मूलन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है, जो स्वदेशी कानून-प्रणाली के उत्थान की घोषणा करता है। ये एक प्रकाश स्तंभ के रूप में हमारे लिए एक ऐसे भविष्य का मार्गदर्शन करते हैं जहाँ "मेड इन इंडिया" का टैग न केवल शिल्प कौशल बल्कि कानूनी कौशल का भी प्रतीक हो।' इसके अलावा, ये विधायी प्रगति तकनीकी प्रगति के साथ सामंजस्यपूर्ण रूप से एकात्म होती है, जो हमारे देश की नवाचार और आधुनिकता को अपनाने की आकांक्षा का सकारात्मक प्रकटीकरण है। इन सबके बावजूद अंततः इसका समस्त प्रभाव इसकी संरचना के बजाए इसके प्रावधानों के कुशल निष्पादन में निहित है। इन कानूनी संशोधनों का समाज और हमारी न्याय व्यवस्था पर क्या असर पड़ेगा यह तो आने वाला समय ही तय करेगा। किंतु आज हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि ये ऐसे सुधार हैं जो लंबे समय से लंबित पड़े थे और अब इनको अमृतकाल में न्याय व्यवस्था का हिस्सा बनते देखना निश्चय ही सुखद अनुभूति है।

संदर्भ-

1. सुंदर, ए., और सुंदर, एन. (2014) इंट्रोडक्शन : सॉवरेन्टी, डेवलपमेंट एंड सिविल वार. ए. सुंदर और एन. सुंदर (संपादक), सिविल वॉर्स इन साउथ एशिया : स्टेट सॉवरेन्टी डेवलपमेंट (चैप्टर 1) (ऑनलाइन संस्करण), सेज प्रकाशन https://dx.doi.org/10.4135/9789351508052
2. सोल, आइडिया ऑफ न्यू क्रिमिनल बिल्स प्योरली भारतीय (2023, दिसंबर 21) www.ndtv.com/india-news/soul-idea-of-new-criminal-bills-purely-bharatiya-amit-shah-in-rajya-sabha-4 717959
3. स्टेट ऑफ गुजरात व. माननीय हाई कोर्ट ऑफ गुजरात 1998 (7) एससीसी 392.
4. रतन सिंह अे स्टेट ऑफ पंजाब (1974) 4 एससीसी 719.
5. भास्करन, एस. (2013). थे पॉलिटिक्स ऑफ पेनिट्रेशन सेक्शन377 ऑफ द इंडियन पीनल कोड. इन क्वीरिंग इंडिया (पेज15-29), रूटलेज.
6. गुप्ता, ए. (2006). सेक्शन 377 एंड द डिग्निटी का इंडियन होमोसेक्सुअल्स. इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली, 4815-4823.
7. वनिता, आर. (2013). क्वियरिंग इंडिया: सेम-सेक्स लव एंड इरोक्टिसम इन इंडियन कल्चर एंड सोसाइटी, रूटलेज.
8. नवतेज सिंह जौहर अे यूनियन ऑफ इंडिया (2018) 10 एससीसी 1.
9. बोरल, एस., एंड वशिष्ठ, डी. डेलिनिएशन ऑफ थर्ड जेंडर आईडेंटिटी इन द इंडियन एपिक्स एंड अदर एनसियंट इंडियन टेक्स्टस.
10. बक्सी, यू. (2005). पोस्ट कॉलोनियल लीगैलिटी. इन एच. सचवार्ज एंड एस. रे (संपा). ए कम्पानियन टू पोस्ट कॉलोनियल स्टडीज(पृष्ठ 540-555).ब्लैकवेल पब्लिशिंग
11. नागर, वी. (1985) किंगशिप इन द शुक्र-नीति, पुष्पा प्रकाशन.
12. ओलिवेल, पी. (2011) पेनेंस एंड पनिशमेंट : मार्किंग द बॉडी इन क्रिमिनल लॉ एंड सोशल आईडियोलॉजी ऑफ अन्सिएंट इंडिया. द जनरल ऑफ हिंदू स्टडीज, 4(1),23-41.
13. एमनेस्टी इंटरनेशनल. (2003). (मालिमैथ) कमिटी ओं रिफॉर्म्स का क्रिमिनल जस्टिस सिस्टम : प्रेमिसेस, पॉलिटिक्स एंड इंप्लीकेशन फॉर ह्यूमन राइट्स. https://www.legal-tools.org/doc/70d1c6/pdf/
14. डी. बंद्योपाध्याय. (2005). न्याय पंचायत : द अनफिनिश्ड टास्क. इकोनामिक एंड पॉलीटिकल वीकली 40(51), 5372-5375. http://www.jstor.org/stable/4417544

न्यायिक सक्रियता बनाम शक्तियों का पृथक्करण

डॉ. कमल कुमार

डॉ. रहनामोल पद्मलांचन रवींद्रन

राजनैतिक कार्यकर्ताओं और जन प्रतिनिधियों के बीच न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका एक व्यापक विमर्श का कारण बन गई है। यह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को कैसे प्रभावित करता है इसका एक गहन विश्लेषण

भारत एक सबसे बड़ा संसदीय लोकतांत्रिक देश है जिस नाते उसे सरकार की तीन प्रमुख संस्थाओं, कानून बनाने के लिए विधायिका, उन्हें लागू करने के लिए कार्यपालिका, और कानूनों पर निर्णय लेने के लिए न्यायपालिका का संरक्षण और समर्थन प्राप्त है। इस तरह भारत के संविधान निर्माताओं ने 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत' के साथ राज्य की तीन शाखाओं के कार्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित और अलग किया है। हालांकि पिछले कुछ दशकों में न्यायपालिका ने विधायी और कार्यकारी कार्यों की संवैधानिक वैधता की जांच करने में एक सक्रिय भूमिका निभाई है। विशेष रूप से यह न केवल देश के कानून की व्याख्या करता है, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर नए नियम और नीतियां बनाने और मौजूदा नियमों को 'न्यायिक सक्रियता' की प्रक्रिया के माध्यम से बदलने के तरीके भी सुझाता है। न्यायिक सक्रियता को लोकप्रिय रूप से एक सुरक्षा वाल्व बनाने और यह विश्वास दिलाने में कि न्याय सभी के लिए सुलभ है में सहायक माना जाता है। वास्तव में, इसने सबसे गरीब और सबसे कमजोर लोगों के लिए अन्याय, भेदभाव और भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ने की उम्मीद के रूप में काम किया है। हालांकि, हाल के दिनों में, न्यायिक सक्रियता के संदर्भ में न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका ने समाज वैज्ञानिकों, राजनैतिक कार्यकर्ताओं, जन प्रतिनिधियों और नागरिक सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच बहस को जन्म दिया है। जहाँ समर्थक संवैधानिक मूल्यों को बनाए रखने और लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए 'न्यायिक सक्रियता' की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हैं वहीं विरोधी इसे 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत के उल्लंघन के साथ-साथ विधायी और कार्यकारी शक्तियों के उल्लंघन के रूप में देखते हैं। वर्तमान अध्ययन 'न्यायिक सक्रियता' की अवधारणा और 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत के साथ इसकी परस्पर क्रिया का विश्लेषण करता है। इसकी शुरुआत दोनों अवधारणाओं और समय के साथ उनके विकास के संक्षिप्त विवरण से होती है। इसके बाद 'न्यायिक सक्रियता' और 'शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत' पर बहस के समर्थकों और विरोधियों की मान्यताओं और तर्कों की चर्चा की जाती है।

भारत में न्यायिक सक्रियता: अवधारणा और विकास

'न्यायिक सक्रियता' मुख्य रूप से न्यायाधीशों के विशेषाधिकार को इंगित करता है। इस विशेषाधिकार का प्रयोग कर वे अराजकता के कारण पैदा होने वाले जटिल प्रश्नों का समाधान देने के लिए नए नियम बनाएँ और नाराज व वंचित लोगों की समस्याओं का समाधान खोजें। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह संविधान या देश के कानून के अनुसार विवादों का निपटारा करने के पारंपरिक "कार्य" को करने के बारे में नहीं है। यह न्यायपालिका द्वारा एक सक्रिय दृष्टिकोण[1] को अपनाना है। न्यायिक सक्रियता विशेष रूप से न्यायपालिका की आधुनिक प्रकृति को संदर्भित करती है। यह न केवल संविधान की भावनाओं का सम्मान करती है, बल्कि सामाजिक इंजीनियरिंग को गति देने वाली नीतियों और कार्यक्रमों को तैयार करने में भी सक्रिय भूमिका निभाती है, जो अक्सर कार्यकारी और विधायी उपायों के क्षेत्र में घुसपैठ करती है। इसके अलावा, न्यायिक सक्रियता, न्यायिक संयम

से भिन्न है। इसका तात्पर्य है कि न्यायिक निर्णय प्रचलित कानूनों के बजाय राजनैतिक या व्यक्तिगत विचारों पर आधारित है। यह शक्तियों के पृथक्करण, कानूनों और संवैधानिक व्याख्याओं के बेहद करीब है।

इसकी उत्पत्ति को 'न्यायिक समीक्षा' के रूप में - संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रसिद्ध "मार्बरी बनाम मैडिसन" (1803) मामले में देखा सकते हैं। अपने फैसले में न्यायमूर्ति जे. मार्शल ने राज्य के निर्णयों के खिलाफ फैसला सुनाने और संसद[2] के अधिनियम को रद्द करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति को बरकरार रखा। इस मामले ने संसद पर न्यायपालिका की सर्वोच्चता को सामने लाया और दुनिया के विकसित और विकासशील दोनों हिस्सों में न्यायिक समीक्षा की दिशा में काम करने को प्रेरित किया। वहीं भारत के संदर्भ में न्यायिक सक्रियता न्यायिक समीक्षा, न्यायिक व्याख्या, जनहित याचिका (पीआईएल), विधायी संशोधन शक्तियों और मौलिक अधिकारों[3] की प्रक्रिया से गहरे जुड़ी है। सामान्य तौर पर, इसे भारत के संविधान[4] के अनुच्छेद 32 और अनुच्छेद 226 में निहित न्यायपालिका की समीक्षा के प्रावधानों से औपचारिक वैधता मिलती है।

दूसरे शब्दों में, न्यायिक समीक्षा संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखने के लिए एक विशेष शक्ति है जिसका प्रयोग न्यायपालिका करती है। समीक्षा शक्ति के अलावा, न्यायपालिका के पास उल्लंघन की स्थिति में मौलिक अधिकारों की रक्षा करने का संवैधानिक दायित्व भी है।

विधायी कार्यों की समीक्षा करने के लिए न्यायपालिका की संवैधानिक अंतर्निहित शक्ति को रेखांकित करने वाला पहला ऐतिहासिक मामला '*ए.के. गोपालन बनाम मद्रास* राज्य (1950)' था। इसने बाद में न्यायिक सक्रियता के विकास को गति प्रदान की। इस मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संविधान में "अनुच्छेद 13(1) और 13(2) को शामिल करना बेहद सावधानी का विषय नजर आता है। उनकी अनुपस्थिति में भी, यदि किसी विधायी अधिनियम के द्वारा मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है, तो न्यायालय के पास हमेशा उस अधिनियम को उस सीमा तक अवैध[5] घोषित करने की शक्ति होती है, जहाँ वह सीमाओं का उल्लंघन करता है। बहरहाल, अपने कामकाज के पहले कुछ दशकों में, भारतीय न्यायपालिका ने एक तकनीकी चरित्र हासिल कर लिया। और इसने संविधान सभा की परिकल्पना के अनुसार विधायी क्षेत्र में अपनी गतिविधियों को न्यूनतम रखा। दूसरे शब्दों में, भारतीय न्यायपालिका की न्यायिक सक्रियता उसके प्रारंभिक वर्षों में न्यायिक बहुत कम थी। उपेन्द्र बक्सी ने नेहरू काल के दौरान न्यायपालिका की सक्रियता को "प्रतिक्रियावादी" बताया, जबकि एसपी साठे ने इसे "तकनीकी"[6] कहा। इसलिए स्वतंत्रता के शुरुआती दशकों में, विधायिका अधिक प्रभावशाली थी। और न्यायपालिका केवल संसद की पहल पर ही प्रतिक्रिया करती थी। वैसे बाद के वर्षों में भारतीय न्यायपालिका के कार्य की प्रकृति के संदर्भ में चीजों में बदलाव देखने को मिला।

संसद द्वारा किए गए कुछ संशोधनों के कारण आखिरकार विधायिका की संशोधन शक्तियों पर बहस छिड़ गई। जिसका परिणाम ये हुआ कि न्यायपालिका की प्रकृति "सकारात्मक" से "सक्रियवादी" हो गई। उदाहरण के लिए, 'गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य (1967)' के मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने विधायिका की संशोधन शक्ति पर सवाल उठाया और कहा कि संसद अपनी मर्जी से संविधान में संशोधन नहीं कर सकती। इस घोषणा को न्यायपालिका के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ माना गया, क्योंकि इसने खुद को एक सुपर-एक्टिव कोर्ट में बदल लिया

संसद द्वारा किए गए कुछ संशोधनों के कारण आखिरकार विधायिका की संशोधन शक्तियों पर बहस छिड़ गई। जिसका परिणाम ये हुआ कि न्यायपालिका की प्रकृति "सकारात्मक" से "सक्रियवादी"[7] हो गई। उदाहरण के लिए, '*गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य (1967)*' के मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने विधायिका की संशोधन शक्ति पर सवाल उठाया और कहा कि संसद अपनी मर्जी से[8] संविधान में संशोधन नहीं कर सकती। इस घोषणा को न्यायपालिका के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ माना गया, क्योंकि इसने खुद को एक सुपर-एक्टिव कोर्ट में बदल लिया।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम में, '*केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973)*', '*इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण (1975)*', '*मिनर्वा मिल्स बनाम केरल राज्य (1980)*' और '*एसआर बोम्मई बनाम भारत संघ (1994)*' के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने चार सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णयों में संविधान के मूल ढांचे के तत्वों को परिभाषित किया। इसका मकसद ये था कि संविधान में संशोधन में संसद द्वारा प्रयोग की जाने वाली बेलगाम शक्ति को सीमित किया जा सके। यह वही शक्ति थी जिसे राज्य के अतिक्रमण के खिलाफ नागरिकों के जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अनिवार्य माना गया था। वास्तव में, यह स्पष्ट किया गया था कि "संसद अपनी संशोधन शक्तियों.[9] का उपयोग कर संविधान की मूल संरचना या ढांचे में संशोधन नहीं कर सकती है"। इस तरह अगर संसद संवैधानिक मूल ढांचे का उल्लंघन करते हुए कोई कानून बनाती है, तो उसे न्यायपालिका उसे रद्द कर सकती है। अब यह और भी स्पष्ट हो चुका है कि अदालतें समाज के व्यापक हित के लिए विधायी कार्यों के खिलाफ कदम उठाने में अधिक सक्रिय हो गई हैं।

आपातकाल के बाद की अवधि में, जनहित याचिका (पीआईएल) के माध्यम से न्यायिक सक्रियता को गति मिली। मानवतावादी दृष्टिकोण से जनहित याचिका को व्यापक रूप से गरीबों और हाशिए पर पड़े लोगों को न्याय दिलाने का एक

साधन माना जाता है। इसके सामाजिक महत्व को ध्यान में रखते हुए, उपेंद्र बक्सी ने पीआईएल को "सामाजिक व्यवहार याचिका" (एसएएल)[10] के रूप में परिभाषित किया है। न्यायमूर्ति भगवती और वी.आर.के. अय्यर को पीआईएल के अग्रदूतों के रूप में श्रेय दिया जाता है। इन्होंने इसे सामाजिक न्याय और समानता[11] सुनिश्चित करने के लिए एक उपकरण के रूप में पहचाना। भारतीय न्यायपालिका अब मौलिक कानूनों और अधिकारों का उल्लंघन होने पर केवल मूकदर्शक नहीं बनी रहती है।

भारत में न्यायिक सक्रियता ने कई रूप हैं, जिनमें मौलिक अधिकारों के दायरे का विस्तार, नीति निर्देशक सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या, प्रेस की स्वतंत्रता की रक्षा, बुनियादी ढांचे की रूपरेखा तैयार करना, जीवन और निजता के अधिकार के क्षितिज का विस्तार, जेल सुधार लागू करना, तथा पर्यावरण और मानवाधिकार न्यायशास्त्र[12] को लागू करना आदि अन्य के साथ शामिल हैं। इससे संविधान के संरक्षक और व्याख्याता से लेकर दिशा-निर्देश, और नीतियां जारी करके सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्र-निर्माण के सक्रिय एजेंट तक की भूमिका में न्यायपालिका की प्रकृति में आमूलचूल परिवर्तन आया है। न्यायालयों ने आज न्यायिक सक्रियता के माध्यम से मौलिक अधिकारों के संरक्षक और संरक्षक के रूप में अपनी छवि को मजबूत किया है। संक्षेप में कहा जाए तो न्यायिक सक्रियता ने उन लोगों को नए पंख दिए हैं जो न्याय, समानता, स्वतंत्रता और अधिकारों की उड़ान नहीं भर पाये थे।

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत

विद्वानों को "शक्तियों के पृथक्करण" के सिद्धांत का प्रारंभिक सैद्धांतिक सूत्रीकरण मोंटेस्क्यू के अग्रणी कार्य में मिला। आमतौर पर यह शब्द एक संवैधानिक व्यवस्था की तरफ इंगित करता है। एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ राज्य के प्रमुख अंग स्वतंत्र रूप से काम करते हैं और दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण नहीं करते हैं। मोंटेस्क्यू के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत जुल्म के खिलाफ ढाल के साथ-साथ मानव स्वतंत्रता की रक्षा की एक शर्त भी है। उनका मानना था कि किसी व्यक्ति या संस्था में विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों का संकेंद्रण निरंकुश शासन की ओर ले जा सकता है। ऐसा होने पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी। अपनी मौलिक रचना "द *स्पिरिट ऑफ द लॉज*" (1748) में शक्तियों के पृथक्करण की मुख्य विशेषताओं को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि "जब विधायी और कार्यकारी शक्तियां एक ही व्यक्ति में, या मजिस्ट्रेटों के एक ही निकाय में संकेन्द्रित हो जाती हैं, तो कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती है... अगर न्याय करने की शक्तियों को विधायी और कार्यकारी से अलग नहीं किया जाता है, तो कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती है... अगर एक ही व्यक्ति या निकाय उन तीन शक्तियों[13] का प्रयोग करने लगे, तो सब कुछ खत्म हो जाएगा"। दूसरे शब्दों में कहें तो यह विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका की शक्तियों के विभाजन का सुझाव देता है, साथ ही स्वतंत्रता और लोकतंत्र को बनाए रखने के लिए सरकार की इन तीन प्रमुख संस्थाओं की कार्यात्मक स्वतंत्रता की वकालत करता है।

विद्वानों को "शक्तियों के पृथक्करण" के सिद्धांत का प्रारंभिक सैद्धांतिक सूत्रीकरण मोंटेस्क्यू के अग्रणी कार्य में मिला। आमतौर पर यह शब्द एक संवैधानिक व्यवस्था की तरफ इंगित करता है। एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ राज्य के प्रमुख अंग स्वतंत्र रूप से काम करते हैं और दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण नहीं करते हैं। मोंटेस्क्यू के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत जुल्म के खिलाफ ढाल के साथ-साथ मानव स्वतंत्रता की रक्षा की एक शर्त भी है। उनका मानना था कि किसी व्यक्ति या संस्था में विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों का संकेंद्रण निरंकुश शासन की ओर ले जा सकता है। ऐसा होने पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी

अमेरिकी संविधान में 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत को इसके अलचीले रूप में शामिल किया गया है। अनुच्छेद 1 "विधायिका की शक्तियों को दर्शाता है; अनुच्छेद 2 राष्ट्रपति को कार्यकारी शक्तियां प्रदान करता है, और वहीं अनुच्छेद 3 एक स्वतंत्र न्यायपालिका[14] की स्थापना करता है। अमेरिका में सरकार राष्ट्रपति प्रवृति की होने के कारण, मोंटेस्क्यू की परिकल्पित शक्तियों के पृथक्करण की धारणा को बिना ज्यादा कानूनी कठिनाइयों का सामना किए हुए साकार किया जाता दूसरी ओर भारतीय "संविधान में शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत को उसके अलचीले रुप में शामिल नहीं किया गया है" जैसा कि अमेरिकी संविधान[15] में है। कहा जा सकता है कि भारत के संघीय-संसदीय चरित्र को देखते हुए, शक्तियों का अलचीला पृथक्करण संभव नहीं है।

भारतीय संविधान में 'शक्तियों का पृथक्करण' जैसे शब्द का कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन अनुच्छेद 50 के तहत 'राज्य नीतियों के निदेशक सिद्धांतों' में एक प्रावधान शामिल है। यह प्रावधान "न्यायपालिका को कार्यपालिका[16] से अलग करने" का सुझाव देता है। इसके अलावा संविधान में अलग-अलग धाराओं[17] के तहत "कार्यपालिका (भाग V का अध्याय I और भाग VI का अध्याय II), विधायिका (भाग V का अध्याय II और III और भाग VI का अध्याय III और IV), न्यायपालिका (भाग V का अध्याय IV और भाग VI का अध्याय V)" की शक्तियों और कार्यों को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है। संवैधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त, सुप्रीम कोर्ट ने *केशवानंद भारती*

मामले (1973)[18] में अपना फैसला सुनाते समय 'शक्तियों के पृथक्करण' सिद्धांत को 'बुनियादी ढांचे' के प्रमुख तत्वों में से एक के रूप में सूचीबद्ध किया। हाल में, कुछ विद्वान शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को कुशल और अच्छे लोकतांत्रिक शासन के लिए प्रमुख तत्वों में से एक के रूप में परिभाषित किया है। उनका कहना है यह न केवल राज्य की तीन प्रमुख संस्थाओं की सत्तावादी प्रवृत्तियों को सीमित करता है बल्कि जांच और संतुलन[19] की प्रणालियों को भी मजबूत करता है।

न्यायिक सक्रियता बनाम शक्तियों का पृथक्करण: सहसंबंध और होड़

1970 के दशक से न्यायिक सक्रियता और पीआईएल नये रूझान के रूप में उभरे हैं, खासतौर पर कार्यपालिका और विधानमंडल सहित अन्य अंगों की अपने कार्य करने में कथित विफलताओं के संदर्भ में। हालांकि न्यायपालिका के उन्मुखीकरण और दृष्टिकोण में इस 'नएपन' ने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच एक बहस छेड़ दी है।

'न्यायिक सक्रियता' के समर्थकों का कहना है कि सक्रिय न्यायपालिका 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत को कमजोर नहीं करती है। यह तो लोकतांत्रिक सरकार के अन्य दो स्तंभों को उनके संवैधानिक कर्तव्यों का पालन करने और लोकतंत्र को मजबूत करने में मदद करके उन्हें शक्तिशाली बनाती है। समर्थक इसके लिए कई तर्क देते हैं; सबसे पहले उनका तर्क है कि विधायिका और कार्यपालिका की अपने कार्यों को सक्षमतापूर्वक करने में विफलता ने न्यायिक सक्रियता का मार्ग प्रशस्त किया है। इन दोनों के बीच की ओवरलैपिंग प्रशासनिक शक्तियों ने स्थिति को और जटिल बना दिया है। विधायिकाएं अक्सर बदलती परिस्थितियों के अनुरूप खुद को ढालने और बदलती सामाजिक माँगों और हितों के अनुसार कानून बनाने में प्रभावहीन रहती हैं। राज्य का प्रशासनिक तंत्र भी देश के लोकतांत्रिक ढांचे[20] को सीधे प्रभावित करने वाली सेवाएं प्रदान करने में नाकाम रहता है। ऐसी दशा में कार्यकारी और विधायी तंत्र की अक्षमता को देखकर न्यायिक सक्रियता ने अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए तीव्र गति पकड़ ली है।

दूसरा, इसकी उदासीनता, निष्क्रियता और अक्षमता से पैदा हुई विधायी शून्यता ने न्यायिक सक्रियता का विकास मार्ग प्रशस्त किया है। इस संदर्भ में नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए विधायी क्षेत्र में न्यायपालिका के हस्तक्षेप करने वाले आलोचकों को जवाब देते हुए, न्यायमूर्ति ए.एस. आनंद कहते हैं कि "भारत में न्यायिक सक्रियता, मानवाधिकारों के क्षेत्र में विधायी शून्यता का क्षेत्र भी शामिल है। न्यायिक सक्रियता लोकतंत्र की ताकत को मजबूत करती है और 'कानून के शासन'[21] में आम आदमी के विश्वास को पुष्ट करती है। इसी तरह शैलजा चंदर का तर्क है कि "न्यायिक सक्रियता सामाजिक परिवर्तन लाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह राज्य की न्यायिक शाखा है जो कानून में जान फूंकती है और विधेयक में[22] गायब कड़ियों को पूरा करती है।" दूसरे शब्दों में, कई मौकों पर, सक्रिय न्यायिक भूमिका ने न केवल मानवाधिकारों के आदर्शों को बरकरार रखा है, बल्कि अनेक महत्त्वपूर्ण समसामयिक मुद्दों पर दिशानिर्देश भी दिए हैं। इन दिशानिर्देशों ने सामाजिक परिवर्तन और समाज की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि न्यायिक प्रणाली में लोगों के भरोसे ने न्यायिक सक्रियता को बढ़ाने में योगदान दिया है। अपनी स्वतंत्रता और मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए लोग अक्सर न्यायपालिका का सहारा लेते हैं। इसके उल्लंघन के मामले में निवारण के लिए वे सबसे पहले न्यायपालिका की ओर देखते हैं।

लोगों के बीच यह एक आम धारणा है कि अगर उनके साथ कुछ गलत होता है तो न्यायपालिका मूकदर्शक बनकर अपना काम नहीं कर सकती है। न्यायाधीशों को न्याय का संरक्षक और एक जिम्मेदार व्यक्ति मानते हैं और ये उम्मीद करते हैं कि वो उनकी समस्याओं से राहत दिलाएंगे। न्याय सुनिश्चित करने[23] के लिए न्यायपालिका से लोगों की बढ़ती अपेक्षाओं के संदर्भ में न्यायिक सक्रियता को एक कारगर उपाय के रूप में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है। चौथा न्यायिक सक्रियता और जनहित याचिका के संदर्भ में है। न्यायपालिका की सक्रिय प्रवृति न्याय को सुनिश्चित करने और समाज के दलित व हाशिए पर मौजूद तबकों के अधिकारों की रक्षा करने का एक अनिवार्य हिस्सा बन गई है। साथ ही यह समाज में होने वाले बदलावों और समय की जरूरतों के कारण पैदा होने वाली माँगों को समायोजित करने की कोशिश करता है। दोनों आधुनिक न्यायिक तंत्रों के महत्व पर जोर देते हुए न्यायमूर्ति वी.आर.के. अय्यर का कहना है कि "जनहित याचिका और न्यायिक सक्रियता मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए एक जन-उन्मुख आयाम है। और यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया को पटरी पर[24] बनाए रखने के लिए आवश्यक है"।

'न्यायिक सक्रियता' के समर्थकों का कहना है कि सक्रिय न्यायपालिका 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत को कमजोर नहीं करती है। यह तो लोकतांत्रिक सरकार के अन्य दो स्तंभों को उनके संवैधानिक कर्तव्यों का पालन करने और लोकतंत्र को मजबूत करने में मदद करके उन्हें शक्तिशाली बनाती है। समर्थक इसके लिए कई तर्क देते हैं; सबसे पहले उनका तर्क है कि विधायिका और कार्यपालिका की अपने कार्यों को सक्षमतापूर्वक करने में विफलता ने न्यायिक सक्रियता का मार्ग प्रशस्त किया है। इन दोनों के बीच की ओवरलैपिंग प्रशासनिक शक्तियों ने स्थिति को और जटिल बना दिया है

वहीं दूसरी ओर, कई विद्वानों का मत है कि न्यायिक सक्रियता एक पूरी तरह से अनावश्यक व्यवस्था है और यह शक्तियों के पृथक्करण की संवैधानिक योजना के विपरीत है। न्यायिक सक्रियता के उपयोग के विपक्ष में कई कारण बताए गए हैं। पहला, आलोचकों का दावा है कि न्यायिक हस्तक्षेप ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को कमजोर कर दिया है। 2016 में भोपाल में राष्ट्रीय न्यायिक अकादमी में एक व्याख्यान देते हुए, भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति, प्रणब मुखर्जी ने कहा था कि "न्यायिक सक्रियता से शक्तियों के पृथक्करण, जो एक संवैधानिक योजना है उसे कमजोर नहीं किया जाना चाहिए,... हमारे लोकतंत्र के प्रत्येक अंग को अपने दायरे में काम करना चाहिए... कार्यपालिका और विधायिका द्वारा शक्तियों का प्रयोग न्यायिक समीक्षा के अधीन है, हालांकि न्यायपालिका द्वारा शक्ति के प्रयोग की एकमात्र जांच आत्म-अनुशासन और आत्म-संयम[25] है।" दूसरे शब्दों में, न्यायालयों के निर्णयों और कार्यों की समीक्षा करने का कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं है, शायद इसी के चलते न्यायपालिका के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने कार्यों की निरंतर अवलोकन करे और अपनी सीमाओं को परिभाषित करे।

न्यायिक सक्रियता की एक और महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि यह अक्सर "न्यायिक अतिरेक" का भी शिकार होती है। ऐसा होना विधायिका और कार्यपालिका से संबंधित मामलों में अनावश्यक और अनुचित न्यायिक हस्तक्षेप का संकेत देता है। सुप्रीम कोर्ट ने खुद '*डिवीजनल मैनेजर, अरावली गोल्फ कोर्स बनाम चंदर हस (2007)*' के मामले में न्यायिक अतिक्रमण के खिलाफ चेतावनी दी थी और कहा था कि "न्यायाधीशों को अपने अधिकार का अतिक्रमण करने या सरकार के कार्यों को हड़पने का प्रयास करने से बचना चाहिए। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सहित सरकार की प्रत्येक शाखा को शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांतों का पालन करना चाहिए। और इन्हें दूसरों के मामलों[26] में अनुचित हस्तक्षेप से बचना चाहिए। दूसरे शब्दों में, न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका को 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धांत द्वारा तय की गई सीमाओं से आगे नहीं बढ़ना चाहिए।

तीसरा, विरोधियों का तर्क है कि न्यायिक सक्रियता लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए प्रतिकूल है क्योंकि यह सरकार के अन्य अंगों की विश्वसनीयता को कमजोर करती है। और यह बिना किसी रोक-टोक के मुख्य रूप से विधायिका और कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मामलों में दखल देती है जिसके चलते जांच और संतुलन के संवैधानिक तंत्र का भी अतिक्रमण होता है। इन सबकी वजह से लोकतंत्र के कामकाज पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है क्योंकि लोगों का राज्य संस्थानों और राजनैतिक नेताओं पर से भरोसा उठ रहा है। उदाहरण के लिए, तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी ने तर्क दिया कि न्यायपालिका के विधायिका में बार-बार हस्तक्षेप करने से संसद के अधिकार का ह्रास हो सकता है। चौथा, हाल के वर्षों में हुए कुछ अध्ययनों ने जनहित याचिका के बढ़ते दुरुपयोग और इसके उचित उपयोग की माँग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। शायद इसी के चलते न्यायमूर्ति ए.एस. आनंद ने आगाह किया कि "इस बात का ध्यान रखना होगा कि पीआईएल अनिवार्य रूप से जनहित याचिका बनी रहे और यह राजनैतिक हित याचिका या व्यक्तिगत हित याचिका या प्रचार हित याचिका या उत्पीड़न के लिए[28] इस्तेमाल न हो जाए"। दूसरे शब्दों में, अदालतों को सलाह दी जाती है कि वे शक्तियों के पृथक्करण सहित संवैधानिक नैतिकता के अनुरूप मुकदमों की सुनवाई करें।

इसके अलावा, न्यायपालिका को बदनाम करने वाले भी तर्क हैं। ये तर्क कार्यकारी और विधायी संरचनाओं की तरह न्यायिक प्रणाली में कमियों को उजागर करते हैं। दरअसल जजों के निरंकुश होने और उनके भ्रष्ट राजनेताओं से भी बदतर होने की आलोचनाएं सुनने में आती हैं। न्यायमूर्ति परशुराम बाबाराम सावंत ने जोर देकर कहा कि न्यायाधीशों का अन्यायी व्यवहार "राजनेताओं की तुलना में अधिक भयानक माना जाता है, ऐसा इसलिए क्योंकि इसके खिलाफ कोई उपाय नहीं है।" मरहम लगाने वाला हत्यारा बन जाता है और बचाने वाला बंधक[29] बनाने वाला बन जाता है।" छठे और अंतिम न्यायिक सक्रियता को भी अक्सर "न्यायिक संयम" की व्याख्या के साथ आलोचना का शिकार बनना पड़ा है। यह "सरकार की निर्वाचित शाखाओं के बीच समन्वय तथा शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का पालन करने" की वकालत करते हुए न्यायपालिका को संसद के[30] अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप न करने की सलाह देता है। दूसरे शब्दों में, न्यायपालिका के अपनी शक्ति का प्रयोग करने और संवैधानिक दायित्वों को पूरा करने के

न्यायिक सक्रियता की एक और महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि यह अक्सर "न्यायिक अतिरेक" का भी शिकार होती है। ऐसा होना विधायिका और कार्यपालिका से संबंधित मामलों में अनावश्यक और अनुचित न्यायिक हस्तक्षेप का संकेत देता है। सुप्रीम कोर्ट ने खुद 'डिवीजनल मैनेजर, अरावली गोल्फ कोर्स बनाम चंदर हस (2007)' के मामले में न्यायिक अतिक्रमण के खिलाफ चेतावनी दी थी और कहा था कि "न्यायाधीशों को अपने अधिकार का अतिक्रमण करने या सरकार के कार्यों को हड़पने का प्रयास करने से बचना चाहिए। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सहित सरकार की प्रत्येक शाखा को शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांतों का पालन करना चाहिए

दौरान न्यायिक संयम एक अर्धविराम है। इसलिए न्यायिक सक्रियता का उपयोग न्यायपालिका को हमेशा सुर्खियों में रखने और विधायी व कार्यकारी क्षेत्रों में न्यायिक हस्तक्षेप को सही ठहराने के साधन के रूप में होना चाहिए।

निष्कर्ष

1970 के दशक से न्यायिक सक्रियता को समाज की भलाई और आम लोगों की भलाई सुनिश्चित करने के हेतु बड़े पैमाने पर श्रेय मिलता है। इसने लोगों में यह विश्वास भी पैदा किया कि राज्य की अन्य दो शाखाओं के विफल होने की स्थिति में, व्यवस्था के पतन की स्थिति में न्यायपालिका सभी के लिए न्याय सुनिश्चित करके उनकी सहायता कर सकती है। पिछले कुछ समय से इसे सुशासन और समावेशी लोकतंत्र के मुख्य स्तंभों में से एक माना जाता है। वैसे न्यायिक सक्रियता एक दोधारी तलवार है और ये बात न्यायविदों, कानूनी विशेषज्ञों और सामाजिक वैज्ञानिकों की आलोचना में स्पष्ट है। न्यायालयों को अपनी सीमाओं में रहकर काम करना चाहिए और शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का पालन करना चाहिए। साथ ही विधायिका और कार्यपालिका के कामकाज में अनुचित और अत्यधिक हस्तक्षेप के खिलाफ न्यायिक प्रणाली को सचेत करने के लिए 'न्यायिक संयम' और 'न्यायिक अतिरेक' जैसी अवधारणाएं सामने आई हैं। शक्तियों के पृथक्करण को कमजोर करना एक लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए खतरनाक साबित हो सकता है। ऐसा करना न केवल निर्वाचित राजनैतिक संस्थानों पर लोगों के विश्वास को कमजोर करता है, बल्कि विधायिका और कार्यपालिका की विश्वसनीयता को भी कम करता है। ऐसे में एक मजबूत और स्वस्थ लोकतंत्र के लिए यह अनिवार्य है कि इसकी सभी संस्थाएं दूसरे के कार्यक्षेत्र में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप किए बिना स्वतंत्र और स्वायत्त रूप से काम करें।

संदर्भ-

1. एम. एम. सेमवाल और सुनील खोसला, "ज्यूडिशियल एक्टिविज्म" द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस*, खंड 69 (1), 2008, पृ. 114.
2. पूर्वोक्त पृ. 115.
3. जेमी कैसल्स, "ज्यूडिशियल एक्टिविज्म एंड पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन इन इंडिया: अटेम्प्टिंग द इम्पॉसिबल?", द *अमेरिकन जर्नल ऑफ कम्पेरेटिव लॉ*, 1989, वॉल्यूम 37 (3), 1989, पृ. 505-507
4. रोमिल भटकोटी, "ह्यूमन राइट्स एंड जुडिशल एक्टिविज्म इन इंडिया", द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस*, वॉल्यूम 72 (2), 2011, पृ. .. 439.
5. रवि पी. भाटिया, "इवोलुशन ऑफ जुडिशल एक्टिविज्म इन इंडिया", जर्नल ऑफ द इंडियन लॉ इंस्टिट्यूट", वॉल्यूम 45 (2), 2003, पृ. 263.
6. पूर्वोक्त, पृ. 264.
7. पूर्वोक्त
8. गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य, एआईआर 1967, एससी 1643
9. डी. सी. चौहान, "पार्लियामेंट्री सोवेरिगंती जुडिशल वर्सेस सुप्रीमसी इन इंडिया", द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस*, वॉल्यूम. LXXIV (1), 2013, पृ. 103.
10. रवि पी. भाटिया, ऑप. सिट., पृ. 270
11. https://www.scobserver.in/journal/political-interests-personal-agendas-bland-orders-have-pils-strayed-from-their- intended-purpose/
12. प्रिया सिपाहा, प्रियंवदा तिवारी एंड हिरल पांडे, "बॉन्डरीज एंड चेंजिंग पर्सपेक्टिव्स ऑन जुडिशल एक्टिविज्म इन इंडिया : ए क्रिटिकल लीगल एनालिसिस", इंटरनेशनल डेवलपमेंट प्लानिंग रिव्यु, वॉल्यूम 22 (2), 2023, पृ. 830-834
13. सीटेड इन रिचर्ड बेनवेल एंड ओनाघ गे, "द सेपरेशन ऑफ पावर्स," लाइब्रेरी ऑफ हाउस ऑफ कॉमन्स, 2011. लिंक:https: // researchbriefings.files.parliament.uk/ documents/SN06053/SN06053.pdf
14. वालेस मेंडेलसन, "सेपरेशन पालिटिक्स एंड जुडिशल एक्टिविज्म", *इंडियन लॉ जर्नल*, वॉल्यूम 50 (2), 1977, पृ. 313-322.
15. पी. परमेश्वर राव, "सेपरेशन ऑफ पावर्स इना डेमोक्रेसी" : थे इंडियन एक्सपीरियंस पीस रिसर्च, वॉल्यूम 37(1), 2005, पृ.113.
16. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, द कंस्टीटूशन ऑफ इंडिया, मिनिस्ट्री ऑफ लॉ एंड जस्टिस, 2021,2, पृ. 55
17. द पार्ट V ऑफ द कंस्टीटूशन डिफाइन्स द लेजिस्लेटिव एग्जीक्यूटिव एंड जुडिशरी पावर ऑफ द सेंट्रल गवर्नमेंट व्हाइल द पार्ट VI ऑफ द स्टेट्स
18. डी. सी. चौहान, "पार्लियामेंट्री सोवेरिगंती वर्सेस जुडिशल सुप्रीमसी इन इंडिया", द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस*, खंड 74 (1), 2013, पृ. 103.
19. रिचर्ड बेनवेल और ओनाघ गे, ऑप। सिट., पृ 1.
20. एम. एम. सेमवाल एंड सुनील खोसला, ओपी. सिट., पृ 122.
21. ए.एस. आनंद, "जुडिशल रिव्यू - जुडिस स एक्टिविज्म : नीड फॉर कॉशन," जर्नल ऑफ द इंडियन लॉ इंस्टिट्यूट, वॉल्यूम. 42 (2/4), 2000, पृ. 157.
22. शैलजा चन्दर, *जस्टिस वी.आर. कृष्णा अय्यर फंडामेंटल राइट्स एंड डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स, दीप एंड दीप पब्लिकेशन्स, न्यू* दिल्ली, 1998, पृ. 223.
23. एस. के. पटनायक एंड स्वालेहा अख्तर, "जुडिशल एक्टिविज्म इन इंडिया : मिथ एंड रियलिटी", इंडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइंस, वॉल्यूम. 58 (1/4), 1997, पृ. 86-87.
24. डी. सी. चौहान, यथा उद्धृत, पृ. 104.
25. द डेली टेलीग्राम्स, "जुडिशल एक्टिविज्म शुड नॉट लीड टू डिलूशन ऑफ सेपरेशन ऑफ पावर्स : प्रेसिडेंट", द *डेली टेलीग्राम्स*, 16 अप्रैल 2016
26. प्रिया सिपाहा, प्रियंवदा तिवारी, हिरल पांडे, यथा उद्धृत, पृ. 835.
27. रोमिल भटकोटि यथा उद्धृत, पृ. 440.
28. ए.स आनंद, यथा उद्धृत, पृ. 156, ए.एस. आनंद, यथा उद्धृत, पृ. 156
29. पी. बी. सावंत, *जुडिशल इंडिपेंडेंस : मिथ एंड रियलिटी, मूलनिवासी, पब्लिकेशन्स, पुणे*, 2005, पृ. 70
30. प्रिया सिपह, प्रियंवदा तिवारी, हिरल पांडे, यथा उद्धृत, पृ. 836

भारत के सतत विकास में कानून, न्यायपालिका और पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान की भूमिका

डॉ. टी. वी. मुरलीवल्लभन

अद्वैत एम. वेदांत

भारत में आधुनिक सतत विकास को पारंपरिक पर्यावरण ज्ञान के द्वारा आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। पर्यावरणीय कानून और न्यायपालिका इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। एक विश्लेषण

20वीं सदी की पर्यावरणीय समस्याएं 21वीं सदी में पर्यावरणीय संकट का रूप अख्तियार कर चुकी हैं। किसी समस्या के होने पर उसका हल ढूंढ़ना आसान है, लेकिन किसी संकट के एक गंभीर समस्या बन जाने पर उसका समाधान ढूंढना बहुत कठिन होता है। वायु, जल और मिट्टी का प्रदूषण असामान्य स्तर पर पहुंच चुका है। वैश्विक तापमान वृद्धि में, हर साल पिछले साल का रिकॉर्ड टूट रहा है। इसका ही परिणाम है कि साल 2024 ने पिछले सभी रिकॉर्ड तोड़ दिए हैं। दुनिया के एक हिस्से में शुष्क गर्मी और बड़े पैमाने पर जंगल की आग तो वहीं दूसरे हिस्सों में बादल फटने और भारी बाढ़ की स्थिति एक दूसरे को चुनौती देते लगते हैं। इससे मानव जीवन पूरी तरह से अस्त-व्यस्त हो गया है। गर्म और शुष्क जलवायु के लिए मशहूर मध्य पूर्व ने हाल के वर्षों में सबसे अधिक भीषण बाढ़ों का सामना किया है। वैश्विक जलवायु के इस अनियमित व्यवहार ने कृषि, उद्योग और यहां तक कि शेयर बाजार पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला है। इस प्रकृतिक आपदा के चलते सभी वैश्विक, राष्ट्रीय और स्थानीय विकास के प्रयासों में रूकावटें आ रही हैं। इतना ही नहीं, इन सबके कारण मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भी ऊंची कीमत चुकानी होती है। 21वीं सदी में पर्यावरण असंतुलन मानवता के विकास की लंबी यात्रा में बड़ी बाधा है।

इस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर, सभी विकास संबंधी और पर्यावरण विशेषज्ञ पर्यावरण की सुरक्षा और विकास को साथ बढ़ावा देने के लिए वैकल्पिक तरीकों की तलाश में जुटे हैं। उन्होंने 1980 के दशक में प्रयास शुरू किया था जो अभी भी बदस्तूर जारी हैं। सतत विकास एक नया शब्द है जो इस आधुनिक युग में दुनिया के कोने-कोने में गूंज रहा है।

चूंकि सतत विकास एक समग्र और बहु-विषयक अवधारणा है, जिसके कारण विज्ञान और प्रौद्योगिकी, राजनैतिक नीतियां, आर्थिक कार्यक्रम, कानूनी प्रणाली, सामाजिक ताना-बाना, धार्मिक विश्वास और आध्यात्मिक संस्कृति इसे प्रभावित करते हैं। सतत विकास को हासिल करने के लिए पर्यावरण में संतुलन बनाए रखना जरूरी होता है। इसमें कार्य में कानून और नियम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत यानी इंडिया में पर्यावरण संरक्षण की एक लंबी परंपरा रही है। भारतीय संस्कृति ने पर्यावरण के विनाश के खिलाफ एक निवारक के रूप में काम किया है, जिसने भारत में कानूनी संस्थानों की भूमिका को अपेक्षाकृत आसान कर दिया है।

यह लेख आधुनिक सतत विकास को हासिल करने में पर्यावरण कानूनों और न्यायपालिका के महत्व और भारत के पारंपरिक पर्यावरण संबंधी ज्ञान का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

एक सामान्य और परिचयात्मक पेपर के रूप में, इसमें पर्यावरण, विकास, सतत विकास, भारत के पर्यावरणीय ज्ञान और कानून और न्यायपालिका की अवधारणाओं को समान महत्व मिला है। साथ ही यह पेपर ऊपर दी हुई अवधारणाओं के महत्व और उनके बीच अंतर्सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालता है।

भाग - 1

पर्यावरण, विकास और सतत विकास

"पर्यावरण शब्द में जल, वायु, भूमि के साथ ही जल, वायु, भूमि, मानव और अन्य जीवित प्राणियों, पौधों, सूक्ष्म जीवों और उनके गुण धर्म[1] के बीच मौजूद अंतर्संबंध शामिल हैं।

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि पर्यावरण एक व्यापक शब्द है। इस शब्द में आस-पास की चीजों का समुच्चय शामिल है। इसमें जीवित प्राणी, निर्जीव चीजें, उनकी स्थितियां और उनके प्रभाव शामिल हैं। प्रकृति और पर्यावरण को समझने के लिए इसके गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों का मिलाजुला अध्ययन आवश्यक है। इसे पारंपरिक रूप से भारत के प्राचीन ऋषियों द्वारा साकार की गई प्रकृति की समग्र दृष्टि के रूप में जानते हैं। और पिछले कुछ दशकों में पश्चिमी देशों में आधुनिक शोध के माध्यम से बहु-विषयक अध्ययन हुए हैं।

पर्यावरण का महत्व

पृथ्वी पर जीवन का बाहुल्य पौधों पर है। ये पौधे जैवभार का 82.5% भाग बनाते हैं। इस जैवभार का[2] 0.4% पशु हैं वहीं मानव की हिस्सेदारी मात्र 0.01% है। यह पशु और वनस्पति जगत ही है जो मानव के अस्तित्व को सहारा देता है। वहीं हवा, पानी और मिट्टी जैसे अजैविक कारक पशु और मानव दोनों को जीवित रहने में सक्षम बनाते हैं। इस तरह देखें तो भौतिक अस्तित्व वाली दुनिया में, मनुष्यों का इस ग्रह पर उतना महत्व नहीं है। वे यदि समाप्त भी हो जाएं तो भी इस दुनिया पर कोई खास असर नहीं पड़ेगा। लेकिन मनुष्यों को लगता है कि वे इस ग्रह के मालिक हैं और प्रकृति पर उनका पूरा अधिकार है।

अधिकार धारक अधिकतर व्यक्तिगत होते हैं, स्वस्थ पर्यावरण के अधिकार की आलोचना इसके मानव-केंद्रित चरित्र की वजह से होती है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि मनुष्यों को स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार है, और यह विचार मानवाधिकारों की पश्चिमी प्रभावित अवधारणा से पूरी तरह प्रभावित है। यह अवधारणा मनुष्यों को दुनिया के केंद्र में रखती है। इस अवधारणा को पर्यावरण-केंद्रित दृष्टिकोण के साथ संतुलित करना चाहिए जहां प्रकृति को केंद्र में रखा जाता है।"[3]

विकास प्रक्रियाओं में विज्ञान और तकनीक के अनुप्रयोग के बाद उत्पादन, वितरण और उपभोग की प्रकृति और प्रवृत्ति में बदलाव आया है। चूंकि तकनीकी किसी स्व-सीमित सिद्धांत को नहीं मानती, "... प्रकृति की सूक्ष्म प्रणाली में, तकनीकी और खास तौर पर आधुनिक दुनिया की सुपर तकनीक, एक विदेशी निकाय की तरह काम करती है और अब तो इसकी अस्वीकृति के अनगिनत संकेत हैं।"[4]

संसाधनों की कमी और पर्यावरण का क्षरण

फ्रिटजॉफ कैप्रा का कहना है कि "विकास के प्रति जुनून लोगों के लिए अफीम बन चुका है... इसका रूख अब अत्यधिक उत्पादन और उपभोग से हटाकर सार्वजनिक सेवा क्षेत्रों जैसे परिवहन, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा की ओर मोड़ना होगा। और इस बदलाव के साथ-साथ भौतिक अधिग्रहण से आंतरिक वृद्धि और विकास[5] पर जोर देना होगा।"

विकास के प्रति इस जुनून का ही परिणाम था कि, "दुनिया ने कनाडा में भीषण गर्मी, जर्मनी में अचानक बाढ़, स्पेन में अभूतपूर्व बर्फबारी, चीन में असाधारण बारिश और न्यूयॉर्क में बाढ़ जैसी अप्रत्याशित घटनाओं को देखा। इसके अलावा ऑस्ट्रेलिया के जंगलों में लगी आग ने वहां के एक बड़े क्षेत्र में"[6] वनस्पतियों और जीवों को नष्ट कर दिया है।

इस प्रकार आधुनिक विकास के दुष्प्रभावों ने जैसे जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वार्मिंग, वनों की कटाई, ओजोन परत का क्षरण, प्रदूषण, अम्लीय वर्षा और विषाक्त अपशिष्ट आदि ने इस ग्रह पर जीवन के अस्तित्व को खतरे डाल रखा है।

सतत विकास की ओर

सतत विकास "वह विकास है जो भविष्य की पीढ़ियों की उनकी अपनी जरूरतें"[7] को पूरा करने की क्षमता से कोई समझौता किए बिना वर्तमान पीढ़ी की जरूरतों को पूरा करता है।

सतत विकास एक समग्र अवधारणा है। पारिस्थितिकी/पर्यावरण आध्यात्मिकता, पारिस्थितिकी/पर्यावरण धर्मशास्त्र, पारिस्थितिकी दर्शन, पारिस्थितिकी/हरित साहित्य, पारिस्थितिकी/हरित राजनीति, पारिस्थितिकी/हरित प्रौद्योगिकी, पारिस्थितिकी/हरित कानून और न्यायालयों में हरित पीठ सतत विकास के बहुविषयक आयामों के उदाहरण हैं। कानून और न्यायपालिका का सतत विकास प्राप्त करने से सीधा संबंध है। सतत विकास का सामाजिक आयाम, जीवन की स्थिति और गरिमा में सुधार, विकास और आनंद लेने के अधिकार को मान्यता देता है। सतत विकास का आर्थिक पक्ष सभ्य जीवन स्तर के लिए गरीबी उन्मूलन के साथ-साथ बुनियादी स्तर की आय और रोजगार की माँग करता है।

सतत विकास लक्ष्यों के लिए 2030 के एजेंडा में पर्यावरण की रक्षा और विकास को एक साथ बढ़ावा देने के लिए संयुक्त राष्ट्र, विश्व देशों और विकास विशेषज्ञों जैसी वैश्विक एजेंसियों के प्रयासों को सूचीबद्ध किया गया है। इसके परिणामस्वरूप सतत विकास लक्ष्यों (एसडीजी) को संयुक्त राष्ट्र के 193 सदस्य देशों ने[8] 2030 के विकास एजेंडे के रूप में वैश्विक स्तर पर स्वीकार किया है। राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर सतत विकास की नीतियों का उद्देश्य संसाधनों की कमी और पर्यावरण के क्षरण की समस्याओं को कम करना है।

भारत अपनी विकास नीतियों में स्थिरता को भी प्रमुखता देता है। "आप जानते हैं कि भारत वैश्विक समुदाय का छठा हिस्सा है। हमारी विकास संबंधी आवश्यकताएं बहुत अधिक हैं। हमारी गरीबी या समृद्धि का सीधा असर वैश्विक गरीबी या समृद्धि पर पड़ता है। भारत में लोगों ने आधुनिक सुविधाओं और विकास के साधनों तक पहुंच के लिए बहुत लंबा इंतजार किया है। हमने इस कार्य को अनुमान से पूर्व पूरा करने की प्रतिबद्धता जताई है। हालांकि हमने यह भी कहा है कि हम यह सब स्वच्छ और हरित तरीके से करेंगे" - प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी (2018)।[9]

भाग 2

सतत विकास[10] के लिए पर्यावरण कानून और न्यायिक हस्तक्षेप

https://www.lloydlawcollege.edu.in/blog/environmental-law.html#

विज्ञान और तकनीकी के साथ-साथ राजनैतिक नीतियां, आर्थिक कार्यक्रम सतत विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। विधायिका और कार्यपालिका के साथ-साथ देश की कानूनी संस्थाएं भी पर्यावरण संरक्षण के लिए कानूनों को लागू करके सतत विकास के उद्देश्यों को साकार करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। वायु, जल, मिट्टी और वन चार मूलभूत पर्यावरणीय कारक हैं जो मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। इसलिए सतत विकास और जीवन के अधिकार को साकार करने के लिए इन चार कारकों का संरक्षण बेहद जरूरी है। वैसे भी सभी कानूनी संस्थाएं और उनके तंत्र आखिरकार समाज की प्रगति हेतु प्राकृतिक संसाधनों को बनाए रखने में उसकी सहायता करने के लिए ही तो हैं।

पर्यावरण कानून को विभिन्न स्थानीय, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय इकाइयों द्वारा स्थापित सिद्धांतों, निर्देशों, नीतियों और विनियमों से युक्त कानूनी ढांचे के रूप में समझा सकते हैं। इसका उद्देश्य पर्यावरण की सुरक्षा और रखरखाव करना है, वर्तमान और भावी पीढ़ियां[11] दोनों के लिए इसकी उपयुक्तता पर मुहर लगाना है।

"कानून का पर्यावरणीय नियम सतत विकास के लिए केंद्रीय है। यह पर्यावरणीय आवश्यकताओं को कानून के नियमों के आवश्यक तत्वों के साथ एकीकृत करता है, और पर्यावरणीय शासन को बेहतर बनाने के लिए आधार प्रदान करता है। यह मौलिक अधिकारों और दायित्वों के साथ जुड़कर पर्यावरणीय स्थिरता पर प्रकाश डालता है। यह सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों और व्यवहार के नैतिक मानदंडों को दर्शाता है, और यह पर्यावरणीय अधिकारों और दायित्वों के लिए एक आधार देता है। पर्यावरणीय कानून के नियम, कानूनी अधिकारों और दायित्वों को लागू किए बिना, पर्यावरण शासन मनमाना, यानी विवेकाधीन, व्यक्तिपरक, और अप्रत्याशित"[12] हो सकता है।

आधुनिक 'प्रकृति के अधिकार' सिद्धांत के अनुसार, एक पारिस्थितिकी तंत्र कानूनी व्यक्तित्व का दर्जा पाने का हकदार है और इस तरह उसे किसी भी प्रकार के नुकसान के खिलाफ अदालत में अपना बचाव करने का अधिकार है। इसे 'पर्यावरण व्यक्तित्व' के नाम से भी जाना जाता है।

"हमें स्वस्थ पर्यावरण के अधिकार के लिए अदालतों और वैश्विक समर्थन के माध्यम से पर्यावरण कानून और प्रवर्तन पर भी अधिक जोर देने की जरूरत है। अगर प्रदूषण फैलाने वाले लोग बाज नहीं आयेंगे या सफाई नहीं करेंगे, तो कानून को उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करना होगा। यह सब बहुत तेजी से हो रहा है, जैसा कि हमने देखा एक डच अदालत ने एक प्रमुख तेल कंपनी को 2030 तक उत्सर्जन"[13] में कटौती करने का आदेश दिया।" दुनिया में हर जगह पर्यावरण कानून आम तौर पर विभिन्न सम्मेलनों के माध्यम से सामने निकलकर आए उपरोक्त अंतरराष्ट्रीय मानकों और मानदंडों के आधार पर तैयार होते हैं।

भारत में पर्यावरण कानून का विकास

1972 के स्टॉकहोम सम्मेलन और उसकी वजह से पैदा हुई वैश्विक पर्यावरण जागरूकता ने भी भारत में पर्यावरण कानूनों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस अवधि के दौरान, भारत मुख्य रूप से टोर्ट कानूनों, आपराधिक कानूनों, जल और वनों से संबंधित विनियमों और पर्यावरण संरक्षण के मामलों को देखने के लिए विशेष कानूनों के एकीकरण पर निर्भर था। भारतीय न्यायपालिका ने कई मामलों में इस राय को दोहराया है। उसने संतुलित प्रगति और मानवाधिकारों के संरक्षण में पर्यावरणीय अर्थशास्त्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर जोर दिया है।

1980 के दशक में, सर्वोच्च न्यायालय ने कई निर्देश जारी किए, महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किए और प्रतिबंध लगाए। इन सभी का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छ पर्यावरण को एक मौलिक और जीवन-निर्वाह अधिकार के रूप में अपना सके।

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान प्रकृति और मनुष्य का संरक्षक है। नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों से संबंधित है, अनुच्छेद 51-ए (जी) कहता है: "भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह वन, झील, नदियों और वन्य जीवन सहित प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करे और उसे बेहतर बनाए तथा जीवों के प्रति दया भाव रखे"। इस अनुच्छेद को पशु अधिकारों का 'मैग्ना कार्टा' भी कहते हैं।

अनुच्छेद 21 जीवन के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में संरक्षित करता है। जीवन का आनंद और उसकी प्राप्ति, जिसमें मानवीय गरिमा के साथ जीवन का अधिकार भी शामिल है, इसके दायरे में पर्यावरण की सुरक्षा और संरक्षण, हवा और पानी के प्रदूषण से मुक्त पारिस्थितिक संतुलन, स्वच्छता भी आते हैं जिसके बिना जीवन का आनंद नहीं ले सकते हैं। इस लेख में विस्तारित संस्करण के रूप में जानवरों के जीवन के अधिकार भी शामिल हैं।

भारतीय दंड संहिता के अध्याय 14, अनुच्छेद 48 और 48 ए, अनुच्छेद 253 आदि पर्यावरण संरक्षण के लिए भारतीय संविधान के प्रावधान हैं। इनमें से कई प्रावधान पर्यावरण संरक्षण के प्रति भारतीय संविधान का अप्रत्यक्ष दृष्टिकोण है। "स्वच्छ और स्वस्थ पर्यावरण के मौलिक अधिकार को मान्यता देने वाले संविधान में किसी विशिष्ट प्रावधान का अभाव हाल ही के दिनों में[14] न्यायिक सक्रियता द्वारा दूर किया गया है।"

भारत में पर्यावरण कानून

भारत को अपने पर्यावरण कानूनों की एक पूरी श्रृंखला पर गर्व है, जिसमें वायु, जल और मिट्टी को प्रदूषण से बचाना शामिल है। साथ ही, कानून के माध्यम से वनों और वन्य जीवन की रक्षा की जाती है। बायोमेडिकल अपशिष्ट (प्रबंधन और हैंडलिंग) नियम 1998, नगर निगम ठोस अपशिष्ट (प्रबंधन और हैंडलिंग) नियम, 2000 और बैटरी (प्रबंधन और हैंडलिंग) नियम 2001 आदि का उद्देश्य देश के ठोस अपशिष्टों का प्रबंधन करना है। वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972, जल (रोकथाम और प्रदूषण नियंत्रण) अधिनियम, 1974,

वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980, राष्ट्रीय पर्यावरण न्यायाधिकरण अधिनियम, 1995, इसके अलावा इसका 2010 संशोधन, राष्ट्रीय पर्यावरण अपीलीय प्राधिकरण अधिनियम, 1997, पर्यावरण (औद्योगिक परियोजनाओं के लिए स्थान) नियम, 1999, ओजोन-क्षरण वाले पदार्थ (विनियमन और नियंत्रण) नियम, 2000, ऊर्जा संरक्षण अधिनियम, 2001, जैविक विविधता अधिनियम, 2002, ध्वनि प्रदूषण (विनियमन और नियंत्रण) (संशोधन) नियम, 2010, राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण अधिनियम 2010, तटीय विनियमन क्षेत्र अधिसूचना, 2018 और वन्यजीव (संरक्षण) संशोधन विधेयक 2021 अलग-अलग कानून हैं जो भारत में पर्यावरण की सुरक्षा और सतत विकास की प्राप्ति के लिए बनाए गए हैं।

भारत के ऐतिहासिक पर्यावरणीय मामले

सी. गैल्स्टौन बनाम दुनिया लाल सील (1905): यह मामला भारत में पर्यावरण प्रदूषण की पहली घटना थी, जहां नगर निगम के नाले में कचरा डालने के कारण एक कारखाने पर कानूनी कार्रवाई हुई।

ग्रामीण मुकदमेबाजी और हकदारी केंद्र देहरादून बनाम उत्तर प्रदेश राज्य एवं अन्य (1985): यह मामला मसूरी-देहरादून क्षेत्र में अवैध चूना पत्थर खनन से जुड़ा था, जिससे पर्यावरण को नुकसान पहुंचा। सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप जिम्मेदार खनन गतिविधियों और अतिसंवेदनशील पर्यावरण की सुरक्षा के लिए दिशा निर्देश जारी किये।

सी. मेहता और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य और श्रीराम फूड्स और फर्टिलाइजर इंडस्ट्रीज और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य (1987): इस मामले में एक कारखाने से ओलियम गैस के रिसाव के कारण बड़ी संख्या में लोग मारे गये। इसने पर्यावरणीय नुकसान के लिए उद्योगों को जवाबदेह बनाने की आवश्यकता को लागू किया और पर्यावरण संरक्षण की दिशा में कानूनी मानक स्थापित किए।

सच्चिदानंद पांडे और अन्य बनाम पश्चिम बंगाल राज्य और अन्य मामले में (1987), सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि जब भी पारिस्थितिकी के रखरखाव से संबंधित कोई मामला अदालत में आता है, तो अनुच्छेद 48 ए का ध्यान रखना चाहिए।

सुभाष कुमार बिहार (1991): यह मामला औद्योगिक कचरे को बोकारो नदी में फेंकने से जुड़ा है। न्यायालय ने जल प्रदूषण को रोकने की जरूरत और औद्योगिक अपशिष्ट का सावधानीपूर्वक प्रबंधन करने के लिए उद्योगों की जवाबदेही पर जोर दिया।

सी. मेहता बनाम कमल नाथ एवं अन्य (1996): यह मामला पारिस्थितिकी दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्र में स्पैन क्लब के अनधिकृत निर्माण से जुड़ा है। सर्वोच्च न्यायालय ने सार्वजनिक ट्रस्ट सिद्धांत का हवाला देते हुए संवेदनशील भूमि को निजी संपत्ति में बदलने वाले निजी संगठनों के खिलाफ आदेश दिया।

सी. मेहता बनाम भारत संघ (1997): यह मामला चमड़े के कारखानों द्वारा गंगा नदी में सीवेज को बहाने से जुड़ा है। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि प्रदूषण फैलाने वाले अपशिष्ट प्रबंधन सही ढंग से करने के प्रति जवाबदेह होंगे और उसे पर्यावरण संबंधी समस्याओं के बारे में जानकारी दी।

समीर मेहता यूनियन ऑफ इंडिया (2017): कोयला और तेल ले जा रही एम.वी. राक के डूबने से पर्यावरण को काफी नुकसान पहुंचा। अदालत ने पर्यावरण के नुकसान के लिए जिम्मेदार पक्षों की जिम्मेदारी पर प्रकाश डालते हुए उन्हें भारी मुआवजा भरने का आदेश दिया।

ये सभी मामले पर्यावरण के विभिन्न कारकों की रक्षा के लिए कानून की अदालतों में लड़े गए थे। संवैधानिक प्रावधान बनाये गये और विभिन्न अधिनियम और पर्यावरण संरक्षण के लिए भारत में लड़े गये अलग-अलग मामले देश को सतत विकास प्राप्त करने में मदद करते हैं।

प्राचीन भारतीय पर्यावरण को प्रकृति की लय के रूप में देखते थे, जो लोगों से व्रत (उद्देश्यपूर्ण विशेष रूप से अनुशासित जीवन) की माँग करता है। भारत में वह व्रत प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर रहने का है। सभी आधुनिक कानून और नियम एक तरह के अनिवार्य व्रत हैं, जो पर्यावरण की सुरक्षा और सतत विकास को बढ़ावा देने में मदद करते हैं

भाग 3

सतत विकास के लिए भारत में पर्यावरण का ज्ञान

प्राचीन भारतीय पर्यावरण को प्रकृति की लय के रूप में देखते थे, जो लोगों से व्रत (उद्देश्यपूर्ण विशेष रूप से अनुशासित जीवन) की माँग करता है। भारत में वह व्रत प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर रहने का है। **सभी आधुनिक कानून और नियम एक तरह के अनिवार्य व्रत हैं, जो पर्यावरण की सुरक्षा और सतत विकास को बढ़ावा देने में मदद करते हैं।**

इस व्रत को निभाने हेतु भारतीय खुद को प्रकृति का हिस्सा मानते हैं और भगवान राम, विष्णु, शिव, सरस्वती, लक्ष्मी जैसे भगवान के अवतारों के मानव रूप की पूजा करते हैं। और देवताओं के वाहन के रूप में बंदर, हाथी, पक्षी जैसे जानवरों की भी पूजा करते हैं। साथ ही, हवा, पानी, नदियां और पहाड़ जैसी चीजों को भी भगवान मानते हैं। इस पूजा का आधार *ईश्वस्योपनिषद* का महान दर्शन है: *ईश्वस्यमिदं सर्वम्...* हर जगह, हर चीज ईश्वरीय रूप से जुड़ी हुई है और इसलिए प्रकट भौतिक अंतरों के बावजूद उसे एक ही माना जाता है।

भारतीय वायु को देवता मानते हैं और उसका आदर करते हैं। दिव्य वायु को प्रदूषित करना पाप है क्योंकि वायु ही हमारा देवता (वायु देव) है। वायु का संतुलन और सामंजस्य जीवों के शांतिपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण जीवन के लिए एक पूर्व शर्त है और यह इस ग्रह पर वायु और जीवन रूपों के बीच अंतर्संबंध को दर्शाता है। वे इस संपूर्ण रूप से एकीकृत के विभिन्न भाग हैं।

ऋग्वेद की एक प्रार्थना कहती है, "वायु

में औषधीय गुण हों और यह सदैव शांति और खुशी लाए। ("*वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे*।" (ऋग्वेद, 10.186. 1) वायु में औषधीय गुण हों और यह मेरे हृदय में खुशी और शांति लाए। अथर्ववेद में, श्लोक '*युब वायो सविता च भुवनानि रक्षत:*' (अथर्ववेद, 4.28.3३) संकेत देता है कि वायु और सूर्य रक्षक हैं। लेकिन सवाल है कि आधुनिक दुनिया वायु को किस हद तक प्रदूषण मुक्त रखने में सक्षम है?

जल (*वरुण/जलम*) इस ग्रह पर जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक अगला अपरिहार्य तत्व (*भूत*) है। मनुष्य जल के बिना एक सप्ताह से अधिक जीवित नहीं रह सकता। पर्जन्य (बादल) वर्षा का कारण बने। *बृहद्रण्यक उपनिषद* (5.5.1) में कहा गया है कि 'शुरुआत में केवल जल था'। भारतीय ज्ञान के बारे में सोचें जहां हम जल को हमारी देवी माँ कहते हैं - *जल देवता, समुद्र देवता, गंगा माता*। जीवन का अधिकार और सतत विकास सुनिश्चित करने के लिए इन भारतीय सांस्कृतिक अवधारणाओं का उपयोग कर हमें अपनी जलधाराओं को प्रदूषित करने से रोकना चाहिए।

पदार्थ/मिट्टी/(*पृथ्वी*) को भी भारत में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। विश्व पर्यावरण दिवस 2024 का विषय 'भूमि पुनरुद्धार, मरुस्थलीकरण और सूखे से बचाव' है। "किस द ग्राउंड" एक असाधारण वृत्तचित्र फिल्म है जो जलवायु पहेली के लुप्त टुकड़े के रूप में मिट्टी की खोज करती है।

मिट्टी की रक्षा के लिए उपरोक्त विषय और नारा संयुक्त राष्ट्र और पश्चिमी दुनिया के लिए भले ही नया हो सकता है। लेकिन भारत के पारंपरिक ज्ञान ने सदियों पहले एक ऐसी जीवन शैली तैयार की थी जो न केवल मिट्टी, बल्कि पूरी पृथ्वी की रक्षा करती थी।

भारतीय इस ग्रह को 'पृथ्वी माता' मानते थे (*भू माता*)। एक सच्चा हिंदू सुबह उठते सबसे पहले धरती माता को छूकर उस पर पैर रखने की क्षमा माँगता है।

"..... पादस्पर्शं क्षमस्वमे"

हिंदू किसी भी निर्माण से पहले भूमि पूजा करते हैं, और धरती माता से अनुमति माँगते हैं। पंचभूत सिद्धांत के अनुसार पृथ्वी सबसे कम सूक्ष्म और सबसे परिष्कृत आदिम तत्व है।

वनों की रक्षा के बारे में एक भारतीय ज्ञान है। प्राचीन भारत में तीन प्रकार के वन थे- *महावन* या घने जंगल - प्राकृतिक और अलौकिक शक्तियों की रहस्यमय अभिव्यक्ति के लिए अभेद्य स्थान। *महावन* भगवान शिव का निवास स्थान है जो निर्भयता के देवता हैं। तपोवन कोई भी इस वन में आसानी से प्रवेश कर सकता है। साधु, संन्यासी और ऋषि इसकी आसान पहुंच और शांति के कारण यहां पर निवास करते हैं। तपोवन भारत में ज्ञान का गढ़ है। उत्तर प्रदेश में नैमिषारण्य, तपोवन का एक उदाहरण है। ऋषियों की उपस्थिति के कारण तपोवन 'अभयरण्य' हैं - जानवरों के आराम के स्थान (अभयरण्य)। श्रीवन धन और समृद्धि के वन थे। वनश्री अवधारणा ने लोगों को आर्थिक समृद्धि के लिए प्रमुख और छोटे वन उत्पादों के दोहन (दोहनम) के लिए मार्गदर्शन किया।

पवित्र उपवन आनुवंशिक और जैविक विविधता के संरक्षण के प्राचीन भारतीय तरीके और बारहमासी जल स्रोत को दर्शाते हैं और इसलिए कई गांवों की महत्त्वपूर्ण जीवन रक्षक प्रणाली का निर्माण करते हैं। ऐसा माना जाता है कि पीठासीन देवता लोगों की भलाई का ख्याल रखते हैं और अपराधियों को दंड (ज्यादातर मृत्यु) देकर उपवनों की रक्षा भी करते हैं। *देवरण्य* और *नक्षत्रवन* भी पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास के भारतीय ज्ञान के उदाहरण हैं।

निष्कर्ष

चूंकि सतत विकास विकास की एक अपरिहार्य समग्र और बहु-विषयक विश्व व्यवस्था बन गई है, इसलिए कोई भी देश इसे न अपना कर अपवाद नहीं बन सकता है। चूंकि भारत में पर्यावरणीय ज्ञान की नींव बहुत मजबूत है, इसलिए पर्यावरण को होने वाले नुकसान की मात्रा दूसरों से तुलनात्मक रूप से कम है। पर्यावरण कानूनों का सक्रिय होना और भारत में पर्यावरण ज्ञान की नींव पर उनका कार्यान्वयन, भारत को एक उज्ज्वल स्थिर भविष्य का आश्वासन देता है, इस प्रकार यह महान राष्ट्र सतत विकास का 'विश्व गुरु' बना जाता है।

संदर्भ-

1. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, 'द एनवायर्नमेंटल (प्रोटेक्शन) एक्ट ऑफ इंडिया (1986). एक्ट नं.No.29, चैप्टर 1, पी-2, 23/05 (oneworldindata.org/ बायोडायवर्सिटी - एंड-वाइल्ड लाइफ). /1986.
2. https://ourworldindata.org/life-on-earth
3. iucn.org/news/world.commission-environmental-laws/202110/ right-a-healthy-environment
4. शूमाकर ईएफ, 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल', रूपा एण्ड पब्लिशर, दिल्ली, 1990,पेज नं.-122
5. कैप्रा फ्रिटजॉफ, 'द टर्निंग पॉइंट' (1984), फ्लेमिंगो पब्लिशर्स, लंदन, पी-225
6. बिजनेस लाइन, 04/11/2021
7. डब्ल्यूसीईडी, 'अवर कॉमन फ्यूचर', (1987), ओयूपी, दिल्ली, पी-43
8. un.org/sustainabledevelopment/blog/ tag/193-member-states
9. https://www.indiabudget.gov.in/ budget2019-20/इकोनॉमिकसर्वे/doc/ vol2chapter/echap05_vol2.pdf
10. https://www.lloydlawcollege.edu.in/ blog/environmental-law.html#
11. https://www.lloydlawcollege.edu.in/ blog/environmental-law.html
12. https://www.unep.org/explore-topics/environmental-rights-and-governance/what-we-do/ promoting-environmental-rule-law-0
13. स्पीच डिलीवरर्ड बाय: इंगर एंडरसन स्पीच प्रिपेयरर्ड फॉर डिलीवरी एट द लांच ऑफ द रिपोर्ट "टुवर्ड्स जीरो पाल्युशन: लांच ऑफ द ग्लोबल असेसमेंट ऑफ साइल पाल्युशन रिपोर्ट" (https://www.unep.org/ news-and-stories/speech/soil-beneath-our-feet-restoring-foundations-earth)
14. Indianbarassociation.org/wp-content/ uploads2013/02/environmental/ law-article/

उत्तराखण्ड शासन

समान नागरिक-समान अधिकार

संकल्प
नये उत्तराखण्ड का

"समान नागरिक संहिता उत्तराखण्ड की देवतुल्य जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप है, जो प्रदेश की मातृशक्ति के सशक्तिकरण के साथ एक बेहतर, सुरक्षित, संगठित, सशक्त और समृद्ध समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। प्रदेश में अनुशासन व देशभक्ति की भावना बढ़ने से विकास की गति और तेज होगी। समान नागरिक संहिता माननीय प्रधानमंत्री, श्री नरेन्द्र मोदी के मूल मंत्र 'सबका साथ, सबका विकास और एक भारत-श्रेष्ठ भारत की दिशा में उठाया गया ऐतिहासिक कदम है।"

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

सबका साथ
सबका विकास
सबका विश्वास
सबका प्रयास...

"21वीं सदी के विकसित भारत के निर्माण के दो प्रमुख स्तंभ हैं। पहला, अपनी विरासत पर गर्व और दूसरा, विकास के लिए हरसंभव प्रयास।
आज उत्तराखण्ड, इन दोनों ही स्तंभों को मजबूत कर रहा है। ये दशक उत्तराखण्ड का दशक होगा।"

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

समान नागरिक संहिता का उद्देश्य

- समाज के प्रत्येक कमजोर, गरीब और संवेदनशील वर्ग को सुरक्षा प्रदान करना एवं सशक्त बनाना।
- प्रत्येक वर्ग की महिलाओं, बच्चों, युवाओं और वृद्धों को विकास की मुख्य-धारा से जोड़ना।
- एक समान कानून के जरिए प्रदेश में एकता, अखंडता और राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा देना।
- विवाह की आयु बढ़ाकर प्रदेश की बेटियों और साथ ही बेटों को उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करना।
- वर्षों से चली आ रही कुप्रथाओं को समाप्त करते हुए सशक्त और समृद्ध समाज का निर्माण करना।
- सभी समुदाय के लोगों को समानता का अधिकार देते हुए बेटा-बेटी और स्त्री-पुरुष के बीच का भेदभाव मिटाना।

सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, उत्तराखण्ड द्वारा जनहित में जारी। www.uttarainformation.gov.in uttarakhandDIPR DIPR_UK uttarakhand DIPR

उत्तराखण्ड शासन

नयेपन की तलाश, अपनेपन का अहसास
उत्तराखण्ड

HAR MAUSAM UTTARAKHAND

देखिए भक्ति, संस्कृति और रोमांच का अद्भुत संगम

“ माननीय प्रधानमंत्री, श्री नरेन्द्र मोदी के मार्गदर्शन में हम राज्य के समग्र विकास, प्राकृतिक सुंदरता, समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और अपार संभावनाओं को निखारने के लिए प्रतिबद्ध हैं। हमारा लक्ष्य उत्तराखण्ड को प्रगति का एक मॉडल बनाना है, जहां परंपरा व नवीनता का संगम होता है और हर व्यक्ति राज्य की समृद्धि एवं कल्याण की दिशा में योगदान देता है।

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

“ उत्तराखण्ड देवभूमि है। यह प्रदेश जिस तरह कानून-व्यवस्था को सर्वोपरि रखते हुए विकास पथ पर बढ़ रहा है, वह प्रशंसनीय है। यह प्रयास देवभूमि की पहचान बनाए रखने के लिए भी जरुरी है। इसलिए मुझे विश्वास है कि निकट भविष्य में देवभूमि उत्तराखण्ड पूरे विश्व की आध्यात्मिक चेतना का आकर्षण केंद्र बनेगी और हमें इसी क्षमता के अनुसार उत्तराखण्ड का विकास करना है।

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

उत्तराखण्ड पर्यटन क्षेत्र में निवेश के लिए सर्वोत्तम प्रोत्साहन प्रदान करता है।

वेडिंग के लिए बना नया डेस्टिनेशन

धार्मिक, आध्यात्मिक, हसीन वादियों, हरे-भरे और बर्फीले पर्वतों का गढ़ है देवभूमि उत्तराखण्ड जो बेहतर कनेक्टिविटी, शानदार इन्फ्रास्ट्रक्चर और सभी आवश्यक सुविधाओं से सुसज्जित है। धामी सरकार राज्य में तीर्थटन और पर्यटन के साथ-साथ डेस्टिनेशन वेडिंग की परंपरा को बढ़ावा देने पर विशेष जोर दे रही है और इससे संबंधित सुविधाएं लगातार विकसित की जा रही हैं। लोग उत्तराखण्ड के पवित्र धार्मिक, आध्यात्मिक और प्राकृतिक स्थलों पर डेस्टिनेशन वेडिंग आयोजित करने में दिलचस्पी ले रहे हैं। पर, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की अपील के बाद, यह उम्मीद जताई जा रही है कि आने वाले समय में उत्तराखण्ड 'डेस्टिनेशन वेडिंग' के गंतव्य के रूप में अपनी जगह बना सकता है।

देवभूमि उत्तराखण्ड वह पवित्र स्थल है, जो अपने विवाह समारोह के लिए प्रसिद्ध है। उत्तराखण्ड के रुद्रप्रयाग जिले के त्रियुगी-नारायण गांव में स्थित श्री त्रियुगीनारायण मंदिर उनमें से एक है। ऐसी मान्यता है कि यही वह स्थान है, जहां भगवान शिव ने माता पार्वती के साथ सात फेरे लिए थे। यही कारण है कि यहां प्रत्येक वर्ष बड़ी संख्या में जोड़ियां शादी के पवित्र बंधन में बंधते हैं। यह स्थान डेस्टिनेशन वेडिंग के रूप में नई पहचान बना रहा है।

इसी प्रकार, धर्मनगरी हरिद्वार के शांतिकुंज में हर साल बड़ी संख्या में जोड़े विधि-विधान के साथ जन्म-जन्मांतर की डोर में बंधते हैं। तीर्थनगरी ऋषिकेश की बात की जाए तो मौजूदा समय में यह स्थल देश-विदेश के युवाओं के लिए प्रमुख वेडिंग डेस्टिनेशन के रूप में उभर रहा है। मसूरी, नैनीताल और रामनगर सभी आलीशान सुख-सुविधाओं से संपन्न स्थलों में एक है, जिसके वेडिंग डेस्टिनेशन का चलन देश-विदेश तक बढ़ रहा है। प्रकृति की गोद में विवाह करने के लिए उत्तराखण्ड में औली जैसे हिल स्टेशन यानी 'मिनी स्विट्जरलैंड' भी हैं।

उत्तराखण्ड में पर्यटन और तीर्थटन की विकसित सुविधाओं की वजह से यहां वेडिंग डेस्टिनेशन के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। प्रधानमंत्री के 'वेड इन इंडिया' के नारे के बाद अब यह उम्मीद जताई जा रही है कि धामी सरकार इस मुहिम की दिशा में तेज गति से काम करेगी। 'वेड इन इंडिया' आंदोलन आने वाले समय में उत्तराखण्ड को वेडिंग के लिए सबसे परफेक्ट डेस्टिनेशन के रूप में पहचान दिलाएगा। इससे स्थानीय कारोबार में वृद्धि के साथ आजीविका के नए अवसर सृजित होंगे।

तीर्थटन और पर्यटन का प्रदेश, हर उम्र के लिए कुछ विशेष

इन मनमोहक जगहों पर आप जरुर जाएं: प्रकृति की गोद में बसे ये सुरम्य स्थल आपके दिल को छू लेंगे

उत्तराखण्ड की मनमोहक प्राकृतिक संपदा में कई ऐसे स्थल हैं, जो किसी खजाने से कम नहीं हैं। आप देवभूमि आएं तो इन स्थलों पर जरुर जाएं। पर्यटकों की चहल-पहल भरी जगह से दूर, कम पहुचने जाने वाले ये डेस्टिनेशन आपकी यात्रा को और रोमांचक बना देते हैं। आप प्रकृति से सीधे जुड़ पाते हैं। सुरम्य कार्तिकेय स्वामी मंदिर से लेकर पेओरा के शांत गांव तक, खिरसू के लुभावने नजारे और मंडल की अनछुई सुंदरता जैसे स्थानों का अनूठा आकर्षण है। चौकोटी के हरे-भरे रमणीय पंगोट में पक्षियों के बीच बड़बौंच का आनंद लेना न भूलें। ग्वालदमख् एबट माउंट, शीतलाखेत और नागथात के शांतिपूर्ण माहौल मन को शीतलता प्रदान करने वाले स्थल हैं। उत्तराखण्ड के ये छिपे खजाने अनोखी यात्रा पर जाने के लिए आमंत्रित कर रहे हैं। निश्चित रूप से आप यहां की शांति और प्राकृतिक सुंदरता के कायल हो जाएंगे। सच मानिए आप ऐसे स्थल पर पहुंच सकेंगे, जिनके बारे में आपने पहले कल्पना तक नहीं की होगी। इन स्थलों की यात्रा आपको जीवनभर याद रहने वाला अनुभव देगी।

उत्तराखण्ड पर्यटन विकास बोर्ड के सीईओ सचिन कुर्वे कहते हैं कि उत्तराखण्ड के ये कम ज्ञात गंतव्य राज्य की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की झलक पेश करते हैं। उदाहरण के लिए कार्तिकेय स्वामी मंदिर, उत्तराखण्ड के सुंदर परिदृश्य में बसा हुआ है। यह पारंपरिक वास्तुकला और आध्यात्मिक महत्व को दर्शाता है। राज्य के कोने-कोने में हम लीक से हटकर ऐसे गंतव्यों को बढ़ावा दे रहे हैं और हमारा उद्देश्य पर्यटकों को अद्वितीय अनुभव प्रदान करना और स्थायी पर्यटन विकास को बढ़ावा देना है।

उत्तराखण्ड को 'देवताओं की भूमि कहा जाता है। प्रदेश अपने में न केवल लुभावनी प्राकृतिक सुंदरता को समेटे हुए है, बल्कि यात्रियों को होमस्टे के माध्यम से स्थानीय संस्कृति और परंपराओं का अनुभव करवाने का एक अनूठा अवसर भी प्रदान करता है। ऐसे में, 'दीनदयाल उपाध्याय गृह आवास योजना' के अंतर्गत चल रहे होमस्टे से न केवल स्थानीय लोगों को स्वरोजगार मिला है, बल्कि यह राज्य की अर्थव्यवस्था में भी महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। उत्तराखण्ड सरकार द्वारा शुरू की गई 'दीनदयाल उपाध्याय गृह आवास योजना' के अंतर्गत होमस्टे व्यवस्था को गति मिली है। इस योजना का उद्देश्य स्थानीय लोगों को आय का एक स्थायी स्रोत प्रदान करके उनकी आर्थिक स्थिति का उत्थान करना है। योजना के तहत स्थानीय लोगों को अपने ही घरों पर घरेलू और विदेशी पर्यटकों की मेहमानदारी का अवसर मिलता है। इस तरह से पर्यटकों को उत्तराखण्ड के देशी व्यंजनों, स्थानीय संस्कृति, ऐतिहासिक विरासत, पारंपरिक पहाड़ी जीवन शैली और कला को समझने का अवसर मिलता है। इसके माध्यम से वे ऐसे स्थलों तक पहुंच रहे हैं, जिनके बारे में उन्होंने पहले सुना नहीं था।

वर्तमान में उत्तराखण्ड पर्यटन विभाग के साथ लगभग 5000 पंजीकृत होमस्टे सूचीबद्ध हैं। इन होमस्टे में हिमालय की गोद में बसे आरामदायक कॉटेज से लेकर लकड़ी से बने पारंपरिक घर तक शामिल है, जो इस क्षेत्र के वास्तुशिल्प को दर्शाती है हर होमस्टे पर्यटकों को आरामदायक और सातिरदारी करने वाला माहौल प्रदान करता है, जिससे वे स्थानीय समुदाय के साथ जुड़ सकते हैं।

उत्तराखण्ड में होमस्टे के विकास से प्रदेश की अर्थव्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। ये आवास पर्यटकों को न केवल अनूठा और व्यक्तिगत अनुभव प्रदान करते है, बल्कि रोजगार के अवसर पैदा करके स्थानीय व्यवसायों को बढ़ावा दे रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप उनके योगदान से स्थानीय अर्थव्यवस्था मजबूत हो रही है। होमस्टे मालिक अक्सर आसपास के कारीगरों, किसानों और सेवा प्रदाताओं के साथ सहयोग करते हैं। इससे स्थानीय आपूर्ति श्रृंखला और सतत विकास को बढ़ावा मिलता है।

होमस्टे ने राज्य से पलायन को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कहना होगा कि इस योजना ने आमदनी को बढ़ाने के साथ ही स्थानीय लोगों को पलायन न करने व अपने समुदायों को बढ़ावा देने व विकास करने का ठोस आधार प्रदान किया है। इससे राज्य की सांस्कृतिक विरासत और परंपराओं को संरक्षित करने में मदद मिली है। इससे आने वाली पीढ़ियां अपनी जड़ों से जुड़ी रहेंगी।

उत्तराखण्ड में होमस्टे की लोकप्रियता अपने आप में इस बात का प्रमाण हैं कि यह योजना यात्रियों के दिल को छू रही है। पर्यटक केवल आरामदायक आवास की तलाश नहीं कर रहे होते हैं, बल्कि वे नए गंतव्य और लोगों के साथ आपसी संबंध को भी मजबूती देना पसंद कर रहे हैं। होमस्टे योजना दरअसल में प्रदेश के स्थानीय तौर-तरीकों से जुड़ने के साथ ही पर्यटकों के मन में राज्य की एक नई छवि प्रस्तुत कर रही है। वे यहां रहकर खुशनुमा यादें लेकर वापस जा रहे हैं।

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी का कहना है कि ग्रामीण इलाके पर्यटन के केंद्र बन रहे हैं। साथ ही हर पर्यटन स्थल अपना खुद का राजस्व मॉडल भी विकसित कर सकता है। हमें ग्रामीण अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने के लिए होमस्टे और छोटे होटलों जैसे व्यवसायों को बढ़ावा देने की आवश्यकता है

उत्तराखण्ड होमस्टे योजना के साथ ग्रामीण पर्यटन का निरंतर विकास

सरकार के प्रयास से उत्तराखंड में पर्यटन योजनाओं के माध्यम से स्थानीय आबादी को रोजगार मिले हैं। साथ ही, इस पहल से राज्य की अर्थव्यवस्था में भी मजबूती आई है।

अनदेखे रोमांच का अद्वितीय संगम

उत्तराखण्ड दुनियाभर के रोमांच खेल प्रेमियों को अनूठा अनुभव प्रदान करता है

देश में जब रोमांच पर्यटन की बात आती है, तो उत्तराखण्ड अपने विविध परिदृश्यों और रोमांच प्रेमियों का पसंदीदा स्थान बन जाता है। यहां रोमांचक गतिविधियों की कोई कमी नहीं है। आपको यहां जोश से भर देने वाले कई खेल खेलने को मिल जाते हैं और यही कारण है कि दुनियाभर के रोमांच प्रेमियों के लिए यह राज्य असाधारण अनुभव प्रदान करता है। कई सैलानी तो केवल इन गतिविधियों में शामिल होने के लिए ही उत्तराखण्ड आते हैं। एडवेंचर के दीवानों के लिए यहां रिवर राफ्टिंग, ट्रेकिंग, हाइकिंग और बंजी जंपिंग समेत कई तरह के रोमांचक खेल और गतिविधियां मौजूद हैं।

ट्रैकिंग और हाईकिंग

ट्रैकिंग और हाइकिंग के माध्यम से आप उत्तराखण्ड के सुदूर जगहों की यात्रा कर सकते हैं। यहां पारंपरिक रुपकुंड ट्रैक पर ट्रैकिंग का आनंद लिया जा सकता है, जहां हरे-भरे जंगल और घास के मैदानों के बीच या फूलों की घाटी के बीच से होकर गुजरना सुखद अहसास दे सकता है। लंबी सैर करने वालों के लिए केदारकांठा और गोमुख-तपोवन ट्रैक जीवन भर के लिए यादगार अनुभव दे जाते हैं।

बंजी जंपिंग

विश्व की योग राजधानी के रूप में भी पहचाना जाने वाला ऋषिकेश अपने जोशीले रोमांच के लिए भी जाना जाता है, क्योंकि यहां पूरे देश में सबसे ऊंची बंजी जंपिंग में साइट है। गुरुत्वाकर्षण को चुनौती देने की इच्छा रखने वाले रोमांच प्रेमी शानदार हिमालय पहाड़ियों के बीच बंजी जंपिंग करने के लिए यहां आते हैं।

स्कीइंग

चमोली जिले में स्थित औली को स्कीइंग प्रेमियों के केंद्र के रूप में जाना जाता है। दूर तक बर्फ से ढकी पहाड़ी ढलानों के साथ रोमांच प्रेमी इसके शीतकालीन वंडरलैंड से रास्ता तय करते हुए औली की यात्रा करते हैं। यह शानदार स्थल राष्ट्रीय शीतकालीन खेलों की मेजबानी के लिए भी प्रसिद्ध है, जहां एथलीटों को अपनी ताकत दिखाने का पूरा मौका मिलता है।

रिवर राफ्टिंग

उत्तराखण्ड की नदियां केवल राज्य की सुंदरता को ही नहीं बढ़ाती हैं, बल्कि व्हाइट वॉटर राफ्टिंग के प्रेमियों में जोश भर देती हैं, जो यहां रोमांच के लिए आते हैं। नब पर्यटक सफेद पानी में राफ्टिंग के माध्यम से रैपिड्स पर विजय प्राप्त करते हैं या गंगा, टोंस और अलकनंदा नदियों में एक शांत कैनोइंग या कयाकिंग के दौरान पानी पर नौका चलाते हैं, तो निश्चित रूप से उन्हें अलग रोमांच का अनुभव मिलता है।

पैराग्लाइडिंग

रोमांच प्रेमी यहां आसमान की सैर भी कर सकते हैं और पैराग्लाइडिंग से उत्तराखण्ड की भव्यता का आनंद ले सकते हैं। नैनीताल, मुक्तेश्वर, या पिथौरागढ़ के मनोरम स्थानों से वह आसमानी उड़ान भरकर शानदार हिमालयी इलाकों का नजारा भी ले सकते है। रोमांच के अलावा, उत्तराखण्ड के पर्यटन क्षेत्र ने स्थानीय निवासियों के लिए समृद्धि भी लाई है और यहां रोजगार की संभावनाएं सृजित की हैं। इससे रोमांच पर्यटन बुनियादी ढांचे के विकास को भी बढ़ावा मिला है।

#ExploreUttarkhand

संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति: वांछनीयता एवं चुनौतियाँ

रोहन कृति

सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति न्यायालयों में लंबित मामलों की समस्या का एक अच्छा समाधान हो सकता है। इसके दायरे और चुनौतियों का विश्लेषण

संवैधानिक न्यायालय कानून के शासन को बनाए रखने और लोगों के मौलिक अधिकारों की गारंटी और सुरक्षा सुनिश्चित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये न केवल कानून की व्याख्या और उसे लागू करते हैं बल्कि संविधान की सर्वोच्चता की भी रक्षा करते हैं। यह सुनिश्चित करने के लिए कि न्यायालय अपने बहुमुखी कार्यों को प्रभावी ढंग से कर सकें, न्यायालयों में न्यायिक शक्ति को बनाए रखना महत्त्वपूर्ण है। हर दिन बढ़ते मामलों के दृष्टिगत, यह आवश्यक है कि मुकदमों के बोझ से निपटने के लिए न्यायपालिका की शक्ति पर्याप्त हो। संवैधानिक न्यायालयों में नई नियुक्तियों में देरी के कारण न्यायालयों का समुचित कामकाज प्रभावित हो रहा है। इसलिए, समय की माँग है कि इस लंबित मामले को कम किया जाए और ऐसा करने के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की जा सकती है जो संकट की स्थिति से निपट सकें। अत:,

यह आलेख संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की वांछनीयता और उनकी नियुक्ति में आने वाली चुनौतियों की पड़ताल करता है।

बीजशब्द: *सेवानिवृत्त न्यायाधीश, संवैधानिक न्यायालय, लोक प्रहरी, लंबित मामले।*

परिचय

भारत में न्यायाधीश सेवानिवृत्त तो होते है लेकिन सक्रिय नहीं होते।[1] भारत में न्यायाधीशों के पास सेवानिवृत्ति के बाद कई विकल्प उपलब्ध हैं। कुछ न्यायाधिकरणों में नियुक्ति चुनते हैं, अन्य मध्यस्थता में आकर्षक करियर अपनाते हैं जबकि कुछ शिक्षा के क्षेत्र में जाते हैं। न्यायाधीशों के एक वर्ग को सेवानिवृत्ति के बाद संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया जाता है। भारत का संविधान सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों दोनों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान करता है। न्यायालयों में रिक्तियों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनमें पर्याप्त न्यायाधीश संख्या बनाए रखने की आवश्यकता है। भारत के सभी उच्च न्यायालयों में लंबित मामलों की संख्या 6179770 है, जबकि सर्वोच्च न्यायालय में लंबित मामलों की संख्या लगभग 80000 है।[2] इसके अलावा उच्च न्यायालय अपनी पूरी क्षमता से काम नहीं कर रहे हैं। उच्च न्यायालयों में 840 पदों में से 327 रिक्तियाँ हैं जो लगभग 39 प्रतिशत है।[3] सुप्रीम कोर्ट में भी, 2024 में चार न्यायाधीश सेवानिवृत्त होने वाले हैं।[4] हर दिन बढ़ते मामलों के साथ, यह आवश्यक है कि मामलों के बोझ से निपटने के लिए न्यायपालिका की शक्ति पर्याप्त हो। संवैधानिक न्यायालयों में नियमित नियुक्तियों में देरी के दृष्टिगत, न्यायिक शक्ति को बनाए रखने की बहुत जरूरत है। सतत विकास लक्ष्य 16 न्याय तक पहुँच को बढ़ावा देता है और ऐसे संस्थानों के निर्माण का आह्वान करता है जो प्रभावी और जवाबदेह हों।[5] त्वरित सुनवाई का अधिकार अनुच्छेद 21 का एक महत्त्वपूर्ण घटक है।[6] संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की अनिवार्यता वर्तमान परिदृश्य में अधिक है, जिसमें लंबित मामलों की बढ़ती संख्या आम नागरिकों के लिए न्याय को बाधित कर रही

है और कानून के शासन के सिद्धांतों को कमजोर कर रही है। इस प्रकार, न्यायालय की दक्षता बनाए रखने और सभी के लिए न्याय सुनिश्चित करने के लिए, संवैधानिक न्यायालयों की न्यायिक शक्ति को बनाए रखने की आवश्यकता है और नियुक्तियों में देरी को देखते हुए, संकट की स्थिति से निपटने के लिए एक वैकल्पिक तंत्र सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति है।

सर्वोच्च न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीश

भारत के संविधान में सर्वोच्च न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 128 भारत के मुख्य न्यायाधीश (सीजेआई) को राष्ट्रपति की मंजूरी से भारत के सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में सेवा करने के लिए सुप्रीम कोर्ट और उच्च न्यायालयों दोनों से सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को नियुक्त करने का अधिकार देता है।[7] इसके अतिरिक्त, इस प्रावधान के तहत उनकी नियुक्ति के लिए नियुक्त किए जाने वाले न्यायाधीश की सहमति आवश्यक है।

अपने शुरुआती वर्षों में, न्यायालय ने सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को वापस बुलाकर इस प्रावधान का उपयोग किया। उदाहरण हैं - सय्यद फजल अली, एन. चंद्रशेखर अय्यर, विवियन बोस, रघुबर दयाल, वी. भार्गव, जी. के. मित्तर, और सी. ए. वैद्यलिंगम जिन्होंने निवेदन का उत्तर दिया और न्यायाधीशों के रूप मे कार्य किया। बाद में, सर्वोच्च न्यायालय के दो सेवानिवृत न्यायाधीशों न्यायमूर्ति आई. के. दुआ और न्यायमूर्ति सी. ए. वैद्यलिंगम को अनुच्छेद 128 के अंतर्गत सेवानिवृत न्यायाधीश के रूप में न्यायालय के अन्य कार्यों के निष्पादन के लिए उस समय लगाया गया जब अधिकतर अन्य न्यायाधीश केशवानन्द भारती केस की सुनवाई कर रहे थे।[8] हाल के दिनों में, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 128 का उपयोग न करने के कारण यह अप्रचलित हो गया है।

उच्च न्यायालयों के सेवानिवृत्त न्यायाधीश

अनुच्छेद 217 में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियमित नियुक्ति का प्रावधान है।[9] उच्च न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान अनुच्छेद 224ए के तहत किया गया है।[10] यह प्रावधान "गैर-बाधा" खंड से शुरू होता है और यह निर्धारित करता है कि संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से, किसी ऐसे व्यक्ति से अनुरोध कर सकते हैं जो पहले से ही उस विशेष न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका है, कि वह उस उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश के रूप में कार्य करे। इस प्रावधान के तहत उनकी नियुक्ति से पहले सेवानिवृत्त न्यायाधीश की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। इस अनुच्छेद के आह्वान के केवल तीन उदाहरण हैं- न्यायमूर्ति सूरज भान, जो 1971 में अपने पद से सेवानिवृत्त हुए थे, मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में नियुक्त किए गए, न्यायमूर्ति पी. वेणुगोपाल- मद्रास उच्च न्यायालय- कोयंबटूर में सांप्रदायिक दंगों की घटना की जांच करने के लिए एक समिति में नियुक्त, न्यायमूर्ति ओ. पी. श्रीवास्तव को अभी हाल ही में 2007 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का तदर्थ न्यायाधीश नामित किया गया था।

संविधान में अनुच्छेद 224ए को शामिल करना

अनुच्छेद 224 में मूल रूप से केवल तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान था। 1956 में 7वें संविधान संशोधन द्वारा इस प्रावधान को हटा दिया गया।[11] इस प्रावधान को हटाने का उद्देश्य यह था कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए उक्त प्रावधान को न तो पर्याप्त और न ही संतोषजनक माना गया। बल्कि इसे अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में वर्तमान अनुच्छेद 224 द्वारा प्रतिस्थापित करने की परिकल्पना की गई थी ताकि वे बकाया मामलों का निपटान कर सकें और साथ ही कार्यवाहक न्यायाधीशों की नियुक्ति भी की जा सके। सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में प्रावधान को 15वें संशोधन अधिनियम 1963 के माध्यम से अनुच्छेद 224ए द्वारा संविधान में पुनः शामिल किया गया।[12]

समय-समय पर लंबित मामलों से निपटने के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए लगातार सिफारिशें की गई हैं। शुरू में मलिमथ समिति ने बकाया उन्मूलन योजना के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों का उपयोग करने की सिफारिश की थी।[13] विधि आयोग ने अपनी 124वीं रिपोर्ट में स्वीकार किया कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों के पास न्यायनिर्णयन में व्यापक अनुभव है, जो बढ़ते लंबित मामलों को हल करने के लिए उनके कौशल को मूल्यवान बनाता है।[14] इसके अलावा, अपनी 125वीं रिपोर्ट में, आयोग ने अनुच्छेद 128 का सहारा लेने का सुझाव दिया और एक समाधान प्रस्तावित किया जिसमें सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश की सेवानिवृत्ति, जिसके बारे में पहले से ही

पता है, के परिणामस्वरूप उन्हें तुरंत पद नहीं छोड़ने की बात कही। इसके बजाय, अनुच्छेद 128 के प्रावधानों के अनुसार कार्य करते हुए उन्हें तब तक सेवा करते रहना चाहिए जब तक कि उनका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले।[15]

लोक प्रहरी निर्णय और निष्क्रिय प्रावधान का पुनर्जन्म

भारत में संवैधानिक न्यायालयों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के बारे में संवैधानिक प्रावधान निष्क्रिय रहा है और इसके उपयोग के बहुत कम उदाहरण हैं। देश में लंबित मामलों की बढ़ती संख्या के कारण, लंबित मामलों की इस समस्या से निपटने के लिए किसी तरह का न्यायिक नवाचार होना चाहिए।

इससे निपटने के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कुख्यात *लोक प्रहरी* बनाम *भारत संघ के फैसले में, जिसे लोक प्रहरी निर्णय* के रूप में भी जाना जाता है, इस बढ़ते लंबित मामलों, विशेष रूप से उच्च न्यायालयों में, से निपटने के लिए एक समाधान निकाला।[16] इस निर्णय के माध्यम से, इसने भारतीय संविधान के अनुच्छेद 224ए के निष्क्रिय प्रावधान को जन्म दिया और इसके कार्यान्वयन के लिए कई दिशा-निर्देश निर्धारित किए। इस निर्णय ने अनुच्छेद 224ए के निष्क्रिय प्रावधान को सक्रिय कर दिया जो लंबे समय से एक मृत पत्र बना हुआ था। इस निर्णय ने सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के लिए कई दिशा-निर्देश निर्धारित किए। ये दिशा-निर्देश "निरंतर परमादेश" के रूप में हैं और भविष्य में न्यायालय इन दिशा-निर्देशों को संशोधित कर सकता है।[17]

निर्णय में 224ए को लागू करने से पहले दो तरह की आवश्यकता बताई गई है। सबसे पहले, जो उच्च न्यायालय इस प्रावधान के तहत न्यायाधीशों की नियुक्ति करना चाहता है, उसे पहले से ही अपने रिक्त पदों में से 20% से अधिक पर नियमित नियुक्ति की सिफारिश करनी चाहिए, जिसके बिना अनुच्छेद 224ए को लागू नहीं किया जा सकता। दूसरी शर्त अनुच्छेद 224ए को सक्रिय करने के लिए मानदंड या ट्रिगर पॉइंट को शामिल करती है, जो इस प्रकार हैं:

i. किसी उच्च न्यायालय में रिक्तियों की संख्या उसकी स्वीकृत क्षमता के 20% से अधिक है।
ii. किसी विशिष्ट श्रेणी के मामले पांच वर्ष से अधिक समय से लंबित हैं।
iii. लंबित मामलों में से 10% से अधिक मामले पांच वर्ष से अधिक पुराने हैं।
iv. सामान्यत: या किसी विशिष्ट मामले में, केस निपटान की दर, केस दायर करने की दर से कम होती है।
v. एक वर्ष या उससे अधिक की अवधि में मामलों के निपटान की दर, मामले दायर करने की दर से लगातार कम बनी हुई है।

इस प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय ने दोहरी आवश्यकताएं निर्धारित करके इस बात पर जोर दिया कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति नियमित नियुक्तियों का विकल्प न बन जाए। सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का सर्वोच्च न्यायालय का उद्देश्य केवल बकाया मामलों का निपटान करना है, न कि उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति की नई पद्धति विकसित करना।

लोक प्रहरी मामले की एक अनोखी बात यह है कि इस फैसले में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। इसने कहा कि 224ए के तहत अधिकार का प्रयोग करते समय, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सेवानिवृत्त न्यायाधीश की स्वीकृति लेनी चाहिए और फिर नाम को सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम को भेजना चाहिए। इस संदर्भ में, कॉलेजियम में सर्वोच्च न्यायालय के तीन सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश शामिल होते हैं जिनमें मुख्य न्यायाधीश भी शामिल होते हैं।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 224ए जो उच्च न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान करता है, यह निर्धारित करता है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकते हैं। परंतु सक्रिय न्यायाधीशों के समान सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया विवादों में घिरी हुई है। नियुक्ति प्रक्रिया के संबंध में कार्यपालिका और न्यायपालिका के अलग - अलग दृष्टिकोणों से विवाद उत्पन्न होता है। केंद्र सरकार कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों को शामिल करते हुए एक सहयोगी प्रक्रिया चाहती है, जबकि न्यायपालिका ने कॉलेजियम प्रणाली के माध्यम से नियुक्ति का मार्ग चुना है

सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया: एक समालोचना

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 224ए जो उच्च न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान करता है, यह निर्धारित करता है कि उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकते हैं। परंतु सक्रिय न्यायाधीशों के समान सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया विवादों में घिरी हुई है। नियुक्ति प्रक्रिया के संबंध में कार्यपालिका और न्यायपालिका के अलग - अलग दृष्टिकोणों से विवाद उत्पन्न होता है। केंद्र सरकार कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों को शामिल करते हुए एक सहयोगी प्रक्रिया चाहती है, जबकि न्यायपालिका ने कॉलेजियम प्रणाली के माध्यम से नियुक्ति का मार्ग चुना है।

लोक प्रहरी मामले में दिए गए फैसले में कहा गया है कि अनुच्छेद 224ए के तहत शक्ति का उपयोग करते हुए, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, सेवानिवृत्त

न्यायाधीश की सहमति प्राप्त करने के बाद, सिफारिश को सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम को भेजेंगे। रोचक बात यह है कि लोक प्रहरी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 224ए में निर्धारित नियुक्ति प्रक्रिया में सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम से परामर्श अनिवार्य करने की शर्त को शामिल किया है। परंतु कॉलेजियम की मंजूरी का यह प्रावधान संविधान निर्माताओं की मंशा के खिलाफ है और संवैधानिक विधि के मूल सिद्धांतों को भी नकारता है।

संविधान निर्माताओं की मंशा के विरुद्ध

सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम के माध्यम से अनुशंसा को भेजने की अतिरिक्त आवश्यकता संविधान निर्माताओं की मंशा के विरुद्ध है।[19] शाब्दिक रूप से अनुच्छेद 224ए में केवल राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है जिसके बाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश को नियुक्त कर सकते हैं और इसमें कहीं भी सीजेआई की भूमिका शामिल नहीं है, जबकि अनुच्छेद 217, अनुच्छेद 222 और अनुच्छेद 224 में कहा गया है कि राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करना होगा। मसौदा अनुच्छेद 200 (अब 224ए) के इर्दगिर्द संविधान सभा की बहस में राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति को सम्मिलित के बारे में चर्चा का उल्लेख है और कहीं भी सीजेआई की भूमिका पर विचार-विमर्श और चर्चा नहीं की गई। सदस्यों में से एक जसपत रॉय कपूर ने तर्क दिया कि सेवानिवृत्त न्यायाधीश को वापस बुलाना वस्तुतः नई नियुक्ति के बराबर है और इसलिए इन मामलों में राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक है और निष्कर्ष निकाला कि राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को वापस नहीं बुलाया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान के निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से कहा था कि अध्याय V के अन्य अनुच्छेदों अर्थात् अनुच्छेद 217 और अनुच्छेद 224 की तुलना में नियुक्ति प्रक्रिया में भारत के मुख्य न्यायाधीश की भागीदारी को शामिल नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार, कॉलेजियम अनुमोदन की आवश्यकता में यह विस्तार संविधान निर्माताओं की मंशा के विरुद्ध है।

पाठ्य आवश्यकता के विरुद्ध

जैसा कि पहले बताया गया है, अनुच्छेद 224ए में नियमित नियुक्तियों के प्रावधानों के विपरीत, मुख्य न्यायाधीश या सुप्रीम कोर्ट के कॉलेजियम से परामर्श की स्पष्ट रूप से आवश्यकता नहीं है। केवल राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता थी और फिर उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सेवानिवृत्त न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकते थे। हालाँकि एनजेएसी ने प्रावधान में संशोधन किया और राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की अनुमति दी। एनजेएसी संशोधन को सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ में असंवैधानिक माना गया और अंततः इसे रद्द कर दिया गया।

दूसरे, अनुच्छेद 224ए में एक गैर-बाधा खंड है, जिसका अर्थ है कि यह संविधान के अध्याय V में कही गई किसी भी बात के बावजूद लागू होता है। अनुच्छेद 217 और अनुच्छेद 224 दोनों में भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श की आवश्यकता है, जबकि अनुच्छेद 224ए में यह आवश्यकता अनुपस्थित है। इसके अलावा, अनुच्छेद 128 जो सर्वोच्च न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान करता है, स्पष्ट रूप से भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श अनिवार्य करता है। फलतः सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति में कॉलेजियम को शामिल करना अनुच्छेद 224ए की शाब्दिक आवश्यकता और उद्देश्य के विपरीत है।

न्यायिक दृष्टांत भी सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रक्रिया को कॉलेजियम के माध्यम से करने के पक्ष में नहीं हैं। *अन्ना मैथ्यू बनाम एन कन्नदासन मामले में*[22] यद्यपि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति मुद्दा नहीं था, लेकिन मद्रास न्यायालय ने *अशोक तंवर मामले में संविधान पीठ के फैसले पर विश्वास करते* हुए कहा कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में कॉलेजियम के साथ परामर्श आवश्यक नहीं है।[23]

इंडियन सोसाइटी ऑफ लॉयर्स बनाम भारत के राष्ट्रपति मामले में, जिसमें अनुच्छेद 224-ए सीधे मुद्दा था, इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा कि इस अनुच्छेद के तहत सेवानिवृत्त न्यायाधीश एक अलग और विशिष्ट श्रेणी हैं और वे अनुच्छेद 216 के दायरे में नहीं आते हैं, और इस प्रकार अनुच्छेद 217 के खंड (1) के तहत नियुक्ति की प्रक्रिया उन पर लागू नहीं होती है।[24]

जिस उद्देश्य को प्राप्त करना है उसके विरुद्ध

नियुक्ति की प्रक्रिया को न्यायाधीशों के कॉलेजियम के माध्यम से पूरा करना उस उद्देश्य को ही विफल कर देता है जिसके

नियुक्ति की प्रक्रिया को न्यायाधीशों के कॉलेजियम के माध्यम से पूरा करना उस उद्देश्य को ही विफल कर देता है जिसके लिए उन्हें नियुक्त किया जाता है। अरविंद दातार के लेख में कहा गया है कि इन सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को उनकी प्रारंभिक नियुक्ति के दौरान एक बार कॉलेजियम के माध्यम से नियुक्त किया जा चुका है और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में काम करने के लिए उनकी योग्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। सुप्रीम कोर्ट कॉलेजियम को फिर से सिफारिशें भेजना अनावश्यक होगा और इससे काफी देरी होगी, जिससे अनुच्छेद 224ए का मूल हेतु और उद्देश्य ही विफल हो जाएगा

लिए उन्हें नियुक्त किया जाता है। अरविंद दातार के लेख में कहा गया है कि इन सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को उनकी प्रारंभिक नियुक्ति के दौरान एक बार कॉलेजियम के माध्यम से नियुक्त किया जा चुका है और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में काम करने के लिए उनकी योग्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता है।[25] सुप्रीम कोर्ट कॉलेजियम को फिर से सिफारिशें भेजना अनावश्यक होगा और इससे काफी देरी होगी, जिससे अनुच्छेद 224ए का मूल हेतु और उद्देश्य ही विफल हो जाएगा। इस प्रकार लंबित मामलों को कम करने के बड़े उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कॉलेजियम के माध्यम से नियुक्ति की प्रक्रिया में ढील दी जानी चाहिए।

संक्षेप में, हालांकि द्वितीय न्यायाधीश मामले के बाद,[26] सेवानिवृत्त न्यायाधीशों सहित न्यायाधीशों की नियुक्ति में प्रधानता न्यायपालिका के पास है, सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय शक्तियों के कठोर पृथक्करण में ढील दी जानी चाहिए। बोझिल नियुक्ति प्रक्रिया न केवल संविधान निर्माताओं की मंशा या संविधान की पाठ्य आवश्यकता के विरुद्ध जाती है बल्कि वांछनीय उद्देश्य को भी नकारती है। यहां तक कि सर्वोच्च न्यायालय ने भी इसे माना है। 8 दिसंबर 2023 को अपने अवलोकन में अटॉर्नी जनरल से अनुरोध किया कि वे उच्च न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए एक आसान प्रक्रिया के बारे में सोचें और उसका खाका तैयार करें।[27] संवैधानिक न्यायालयों में नियुक्त किए जाने वाले सेवानिवृत्त न्यायाधीश की पहली बार नियुक्ति नहीं की जा रही है और वे पहले भी सेवा कर चुके हैं और कॉलेजियम के माध्यम से नियुक्त किए गए हैं, इसलिए उनकी नियुक्ति की प्रक्रिया नियमित नियुक्तियों की तुलना में सरल होनी चाहिए। इस तथ्य को देखते हुए कि लोक प्रहरी निर्णय निरंतर परमादेश के रूप में है शीर्ष न्यायालय को ऐसे दिशा निर्देश निर्गत करने चाहिए जो सेवानिवृत न्यायाधीशों की नियुक्ति द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लक्ष्यों के अनुरूप हो।

यूनाइटेड किंगडम में बकाया मामलों के निस्तारण हेतु सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को वापस सेवा लाने के लिए की हालिया पहल हुई है। न्याय प्रणाली की प्रभावशीलता को कम करने वाले महत्त्वपूर्ण न्यायालय के बकायों को कम करने के लिए कई सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को भर्ती किया गया है। संविधान पर गठित चयन समिति ने सत्र 2019-21 की अपनी 22वीं रिपोर्ट में लंबित मामलों से निपटने और अदालतों में न्यायाधीशों की संख्या बनाए रखने के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की अधिक संख्या में नियुक्ति की सिफारिश की है। साथ ही, इसने सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने की भी सिफारिश की है

पार (क्रॉस) - न्यायक्षेत्रीय विश्लेषण

वैश्विक स्तर पर ऐसे बहुत कम देश हैं जहाँ संविधान में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों के लिए स्पष्ट प्रावधान है। इस विश्लेषण के उद्देश्य से मुख्य रूप से दो देशों को चुना गया है जहाँ संविधान में स्पष्ट रूप से प्रावधान अनिवार्य है। ये देश हैं यूनाइटेड किंगडम और संयुक्त राज्य अमेरिका।

1. यूनाइटेड किंगडम

यूनाइटेड किंगडम में बकाया मामलों के निस्तारण हेतु सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को वापस सेवा लाने के लिए की हालिया पहल हुई है। न्याय प्रणाली की प्रभावशीलता को कम करने वाले महत्त्वपूर्ण न्यायालय के बकायों को कम करने के लिए कई सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को भर्ती किया गया है।[28] संविधान पर गठित चयन समिति ने सत्र 2019-21 की अपनी 22वीं रिपोर्ट में लंबित मामलों से निपटने और अदालतों में न्यायाधीशों की संख्या बनाए रखने के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की अधिक संख्या में नियुक्ति की सिफारिश की है।[29] साथ ही, इसने सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने की भी सिफारिश की है।

सेवानिवृत्ति पर्यंत कार्य नीति

सेवानिवृत्ति पर्यंत कार्य की वर्तमान नीति वेतनभोगी न्यायाधीशों को उनके वेतनभोगी पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात उस भूमिका से संबंधित पेंशन प्राप्त करने और फिर भी उनकी सेवाओं की माँग होने पर शुल्क-भुगतान वाले न्यायाधीश के रूप में सेवा करने का विकल्प देती है। यूके ने हाल ही में न्यायिक कार्यालय (सेवानिवृत्ति पर्यंत कार्य-निर्धारित कार्यालय और विवरण) विनियम 2022 पारित किया है जिसने सेवानिवृत्ति पर्यंत कार्य की नीतियों में कुछ बदलाव किए हैं।[30]

हाल ही में यू.के. में, न्यायालयों में लंबित मामलों को निपटाने के लिए न्यायाधीशों को सेवानिवृत्ति से वापस लाया गया है। न्यायालयों में लंबित मामलों, जो न्याय वितरण प्रणाली को कमजोर कर रहे हैं, को कम करने के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की एक बड़ी संख्या को भर्ती किया गया है। लॉर्ड चीफ जस्टिस ने न्याय में तेजी लाने के लिए 65 सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को वापस बुलाया, जिनमें से आधे 70 वर्ष की आयु के हैं। इन सेवानिवृत्त न्यायाधीशों का उपयोग 63,000 लंबित मामलों को निपटाने में किया जाएगा। यह यूनाइटेड किंगडम में न्यायाधीशों की कमी से निपटने के उपायों में से एक है। इसलिए न्यायिक शक्ति की कमी से निपटने और लंबित मामलों को कम करने के लिए इतने सारे सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को नियुक्त करना अभूतपूर्व माना जाता है।

2. संयुक्त राज्य अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका में, संघीय न्यायपालिका में तीन मुख्य संस्थाएँ शामिल हैं: अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट, अमेरिकी अपील न्यायालय और अमेरिकी जिला न्यायालय।[31] इसके अलावा, कई अन्य छोटे संघीय न्यायाधिकरण

भी मौजूद हैं। अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के नीचे 13 अपीलीय न्यायालय हैं जिन्हें अमेरिकी अपील न्यायालय के रूप में जाना जाता है। इन 94 संघीय न्यायिक जिलों को 12 क्षेत्रीय सर्किटों में विभाजित किया गया है, जिनमें से प्रत्येक की अपनी अपील अदालत है।

वरिष्ठ न्यायाधीशों की भूमिका

संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय अदालतों में, वरिष्ठ न्यायाधीश लंबित मामलों के मुद्दे को निपटाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनकी सेवा अदालतों में निरंतर केसलोड और लगातार न्यायिक रिक्तियों की चुनौतियों का समाधान करती है।[32] विल्फ्रेड फीनबर्ग ने अपने मौलिक कार्य में वरिष्ठ न्यायाधीशों के बारे में चर्चा की है और वरिष्ठ न्यायाधीश को एक ऐसे न्यायाधीश के रूप में वर्णित किया है जो संघीय बेंच पर रहता है लेकिन अब उससे पूर्णकालिक काम करने की अपेक्षा नहीं की जाती है।[33] एक वरिष्ठ न्यायाधीश ने न तो बेंच से इस्तीफा दिया है और न ही प्रचलित कानून के शब्दों में, कार्यालय से सेवानिवृत्त हुआ है।[34] वरिष्ठ न्यायाधीश केवल नियमित सक्रिय सेवा से सेवानिवृत हुआ है। वरिष्ठ न्यायाधीशों के बारे में प्रावधान मुख्य रूप से अमेरिकी संविधान के अनुच्छेद III से निकला है।[35] संयुक्त राज्य अमेरिका में, न्यायाधीश निचली अदालत के न्यायाधीशों की तरह वरिष्ठ पद ग्रहण कर सकते हैं और सर्किट या जिला अदालतों में मुख्य न्यायाधीश के रूप में बैठ सकते हैं। वे आमतौर पर अपील की अदालत में ऐसा करते हैं। उदाहरण के लिए, न्यायमूर्ति लुईस पॉवेल ने अपने मूल वर्जीनिया में अपील के चौथे सर्किट में सेवानिवृत्त न्यायाधीश का पद संभाला।

वरिष्ठ न्यायाधीश प्रणाली की दो विशेषताएं महत्त्वपूर्ण हैं

i. जब कोई न्यायाधीश वरिष्ठ पद ग्रहण करता है तो वहां तत्काल एक रिक्ति हो जाती है, भले ही वह न्यायाधीश काम करना जारी रखता है, जिसका अर्थ है कि उस स्थान पर एक युवा न्यायाधीश की नियुक्ति की जाएगी।
ii. चूंकि अधिकांश वरिष्ठ न्यायाधीश कम से कम आधे समय तक काम करते रहते हैं, इसलिए न्यायालय में कुछ युवा और ऊर्जावान नए न्यायाधीश तथा आधे समय तक काम करने वाले अनुभवी वरिष्ठ न्यायाधीश होते हैं।

सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रावधान को 28 यूएस कोड§ 294 § में दिया गया है।[36] वरिष्ठ दर्जा प्राप्त करने के लिए, कम से कम पैंसठ वर्ष की आयु वाला कोई न्यायाधीश "अस्सी के नियम" को पूरा करके ऐसा कर सकता है, जिसके अनुसार उनकी आयु और संघीय सेवा के वर्षों का संयुक्त योग अस्सी के बराबर होना चाहिए। संघीय न्यायाधीश अस्सी के नियम को पूरा करने पर सेवानिवृत्ति लाभों के लिए पात्र हो जाते हैं, जो तब होता है जब उनकी आयु और संघीय बेंच पर सेवा के वर्षों का योग अस्सी होता है। इस बिंदु पर, उनके पास दो सेवानिवृत्ति विकल्प हैं, या तो सीधे सेवानिवृत्ति, यानी 'त्यागपत्र' या "वरिष्ठ दर्जा" प्राप्त करके अर्ध-सेवानिवृत्ति।

अपेक्षा पूरी होने के बाद, न्यायाधीश अपने पद पर बने रह सकते हैं, लेकिन नियमित सक्रिय सेवा से सेवानिवृत्त हो सकते हैं।[37] वे अपनी पसंद के कार्यभार पर कुछ न्यायिक कर्तव्यों का पालन करना जारी रख सकते हैं और वेतन भी प्राप्त कर सकते हैं, भले ही उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति द्वारा नामित हो चुके हों। एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश द्वारा किसी सर्किट में कुछ न्यायिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए नियुक्त किया जा सकता है जिसे वह करने के लिए इच्छुक हैं। परंतु एक वरिष्ठ न्यायाधीश मुख्य न्यायाधीश द्वारा सौंपे जाने के बिना न्यायिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता है। उसके बाद उसके पास उस न्यायालय या जिले के न्यायाधीश की सभी शक्तियाँ होती हैं जहाँ उसे नियुक्त किया जाता है।

निष्कर्ष और सुझाव

भारतीय न्यायपालिका की मजबूती सुनिश्चित करने के लिए न्यायाधीशों की पर्याप्त संख्या बहुत जरूरी है। भारत में लंबित मामलों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और मामलों की बढ़ती संख्या से निपटने की आवश्यकता है। रिक्तियों को नहीं भरा जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप लंबित मामले और बढ़ रहे हैं। "*न्याय में देरी न्याय से वंचित होने के बराबर है*" *कहावत* भारतीय न्यायिक प्रक्रिया को वास्तव में परेशान कर रही है। इसके अलावा, भारत में न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु दुनिया में सबसे कम है। जहां भारत में न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु बढ़ाना एक दूर का सपना लगता है, वहीं इन अनुभवी न्यायाधीशों के उपयोग को पूरा करने वाला एकमात्र प्रावधान उन्हें

भारतीय न्यायपालिका की मजबूती सुनिश्चित करने के लिए न्यायाधीशों की पर्याप्त संख्या बहुत जरूरी है। भारत में लंबित मामलों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और मामलों की बढ़ती संख्या से निपटने की आवश्यकता है। रिक्तियों को नहीं भरा जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप लंबित मामले और बढ़ रहे हैं। "न्याय में देरी न्याय से वंचित होने के बराबर है" कहावत भारतीय न्यायिक प्रक्रिया को वास्तव में परेशान कर रही है। इसके अलावा, भारत में न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु दुनिया में सबसे कम है। जहां भारत में न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु बढ़ाना एक दूर का सपना लगता है, वहीं इन अनुभवी न्यायाधीशों के उपयोग को पूरा करने वाला एकमात्र प्रावधान उन्हें सेवानिवृत्त न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त करना है

सेवानिवृत्त न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त करना है। यह सुझाव दिया जाता है कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रक्रिया को सरल बनाया जाना चाहिए। नियमित नियुक्तियों के विपरीत, यहां नियुक्ति प्रक्रिया को तेज किया जाना चाहिए ताकि प्राप्य उद्देश्य को पूरा किया जा सके। इसके अलावा, अमेरिका और ब्रिटेन के वरिष्ठ न्यायाधीशों या सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की प्रथा को अपनाया जाना चाहिए ताकि नियुक्ति में निरंतरता बनी रहे, न कि उन्हें वापस बेंच में बुलाया जाए। इसके अलावा, लोक प्रहरी में दिए गए दिशा-निर्देशों में किसी भी न्यायालय में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की संख्या 2 से 5 तक सीमित कर दी गई है, ताकि लंबित मामलों को कम किया जा सके। न्यायपालिका द्वारा निष्क्रिय प्रावधान को सक्रिय करना और देश में लंबित मामलों से निपटने के लिए सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को वापस बुलाना एक स्वागत योग्य कदम है।

संदर्भ-

1. शुभंकर डैम, *ऐक्टिव आफ्टर द सन्सेट: द पॉलिटिक्स ऑफ जूडिशल रिटायरमेंट इन इंडिया,* 51, एफईडी. एल. रेव., 31(2023)
2. नैशनल जुडीयल डाटा ग्रिड, https://njdg.ecourts.gov.in/hcnjdgnew (अंतिम बार 20 अप्रैल, 2024 को देखा गया)।
3. डिपार्ट्मन्ट ऑफ जस्टिस, उपलब्ध-, https://cdnbbsr.s3waas.gov.in/s35d6646aad9bcc0be55b2c82f69750387/ploads/2024/05/2024050220618 42603.pdf / पर उपलब्ध है (अंतिम बार 29 अप्रैल, 2024 को देखा गया)।
4. सुचेता, सुप्रीम कोर्ट 2023: ए लुक बैक एट जूडिशल स्ट्रेंगथ, अपॉइन्ट्मेंट, रिटाइरमेंट एण्ड कॉलेजियम रेसोल्यूशन, https://www.scconline.com/blog/post/2023/12/27/round-up-2023-judicial-strength-appointment-retirements-collegium-resolutions-sc-legal-news/, (अंतिम बार 18 मार्च, 2024 को देखा गया)।
5. ससटेनेबल डेवलपमेंट गोल्स (https://www.un.org/sustainabledevelopment/peace-justice/) अंतिम बार 20 मार्च, 2024 को देखा गया।
6. (1980) 1 एससीसी 98.
7. इंडियन कान्स्टिटूशन, अनुच्छेद 128
8. 34 जॉर्ज एच. गैडबोइस जूनियर, जजेज ऑफ द सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, (1950-1989) (*ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस*) 2011
9. इंडियन कान्स्टिटूशन, *अनुच्छेद* 217.
10. इंडियन कान्स्टिटूशन, *अनुच्छेद 224ए.*
11. द कान्स्टिटूशन (सेवन्थ अमेंडमेंट) ऐक्ट, 1956।
12. द कान्स्टिटूशन (फिफ्टीन्थ अमेंडमेंट) ऐक्ट, 1963।
13. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, रिपोर्ट ऑफ द कमिटी ऑन रेफॉर्म्स ऑफ द क्रिमिनल जस्टिस सिस्टम, (मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, 2003)
14. लॉ कमिशन ऑफ इंडिया, रिपोर्ट न. 124: हाई कोर्ट ऐरियर्स - ए फ्रेश लुक, 1988
15. लॉ कमिशन ऑफ इंडिया, रिपोर्ट न. 125: सुप्रीम कोर्ट - ए फ्रेश लुक, 1988।
16. *लोक प्रहरी* बनाम *भारत संघ,* (2021) 15 एससीसी 80।
17. *विनीत नारायण* बनाम *भारत संघ* 16 (1998) 1 एससीसी 226।
18. पैरा 24 ऑफ मेमोरंडम ऑफ प्रोसीजर (एमओपी), डिपार्ट्मन्ट ऑफ जस्टिस, यहां उपलब्ध है: https://doj.gov.in/memorandum-of-procedure-of-appointment-of-high-court-judges, (अंतिम बार 18 मई, 2024 को देखा गया)
19. अनुजय श्रीवास्तव और अभिजीत श्रीवास्तव, 'द *पिक्यूल्यर इन्ट्रोडक्शन ऑफ कॉलेजियम अप्रूवल्ज इन एड हॉक हाई कोर्ट जजेस अपॉइन्ट्मेंट, लॉ स्कूल पॉलिसी रिव्यू एण्ड कौटिल्य सोसायटी* (2021).
20. 8 लोक सभा सेक्रेटेरिएट, कन्स्टिचूअन्ट असेंबली डिबेट, 687।
21. सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स ऑन रिकॉर्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ, (2016) 5 एससीसी 1।
22. 2009 (1) एलडब्ल्यू 87 (मैड)
23. (2005) 2 एससीसी 104.
24. 2011 एससीसी ऑनलाइन स. 1137.
25. अरविंद दातार, अनुच्छेद 224ए: ए फोरगोटन आर्टिकल - लीगल नोट्स बाइ अरविन्द दातार, यहां उपलब्ध https://www.barandbench.com/columns/article-224a-forgotten-article/, (अंतिम बार 10 मार्च, 2023 को देखा गया)।
26. (1993) 4 एससीसी 441.
27. कई प्रतिष्ठित वकील बेंच में शामिल होने के लिए तैयार नहीं हैं, लेकिन एड-हॉक जज के रूप में काम करने के लिए तैयार हैं, यहां उपलब्ध है https://www.livelaw.in/top-stories/supreme-court-ad-hoc-Judges-lok-prahari-seeking-invocation-of-article-224a216166?infinitescroll=1, (अंतिम बार 3 जून, 2023 को देखा गया)
28. न्यायालयों के लंबित मामलों को निपटाने के लिए सेवानिवृत्ति से वापस लाए गए न्यायाधीश,यहां उपलब्ध: https://www.telegraph.co.uk/news/2022/ 11/13/retired-Judges-called-clear-courts-backlog/ (अंतिम बार 23 जून, 2023 को देखा गया)।
29. हाउस ऑफ लॉर्ड्स सेलेक्ट कमेटी ऑन कान्स्टिटूशन, 22 वीं रिपोर्ट सत्र 2019-21 कोविड-19 और न्यायालय।
30. द जूडिशल ऑफिसेज (सिटिंग इन रिटाइरमेंट - प्रीस्क्राइबड ऑफिसेज एण्ड डिस्क्रिप्शनस) रेग्युलेशन 2022
31. अमेरिकन कान्स्टिटूशन, आर्टि. 3, से.1।
32. डेविड आर. स्ट्रास और रयान डब्ल्यू. स्कॉट, आर सीनियर जजेज अनकान्स्टिटूशनल, कॉर्न. एल. रेव. (2007)
33. विल्फ्रेड फीनबर्ग, सीनियर जजेज - ए नैशनल रिसोर्स, *56 ब्रुकलिन लॉ रिव्यू 409-418* (1990)
34. माइनर मायर्स II, द जूडिशल सर्विस ऑफ रिटायर्ड यूनाइटेड स्टेट्स *सुप्रीम कोर्ट जजेज,* 32 जर्नल ऑफ सुप्रीम कोर्ट हिस्ट्री, 46-61 (मार्च 2007)
35. *सुप्रा* नोट 32.
36. द यूनाइटेड स्टेट्स कोड, 1926, § 294.
37. द यूनाइटेड स्टेट्स कोड 1926, 28 यू.एस.सी. 9 371(बी)(1)

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः .....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : +91-9868550000, 011-23210074

ई–मेल: info@manthandigital.com

विकसित भारत, सशक्त उत्तराखण्ड

माननीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी के दूरदर्शी नेतृत्व में हम अपने राज्य की प्राकृतिक सुंदरता, समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और अपार संभावनाओं का लाभ उठाते हुए समग्र विकास के लिए प्रतिबद्ध हैं। हमारा लक्ष्य स्थायी नीतियों और रणनीतिक पहलों के माध्यम से राज्य के आर्थिक विकास को बढ़ावा देना, बुनियादी ढांचे में सुधार करना और नागरिकों की जीवन गुणवत्ता को बेहतर करना है। हम उत्तराखंड को प्रगति का एक ऐसा मॉडल बनाना चाहते हैं, जहां परंपरा नवाचार से मिलती है। हर व्यक्ति राज्य की समृद्धि व कल्याण में अपना अपार योगदान दे सकता है।

-पुष्कर सिंह धामी, मुख्यमंत्री

एसडीजी इंडिया इंडेक्स 2023-24 में उत्तराखंड का शानदार प्रदर्शन

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के दूरदर्शी मार्गदर्शन और मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के कुशल नेतृत्व में उत्तराखंड ने सतत विकास लक्ष्यों (एसडीजी) में शानदार प्रगति का प्रदर्शन किया है, जो कि एसडीजी इंडिया इंडेक्स 2023-24 में प्रदर्शित हो रहा है

PIC: DIPR, UTTARAKHAND GOVERNMENT

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को उत्तराखंड के अनूठा उपहार में देते मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी

हाल ही में जारी एसडीजी (सस्टेनेबल डेवलपमेंट गोल्स) इंडिया इंडेक्स 2023-24 में उत्तराखंड सबसे बेहतरीन प्रदर्शनकर्ता के रूप में उभरा है। उत्तराखंड ने केरल के साथ 79 के प्रभावशाली स्कोर के साथ यह रैंकिंग हासिल की है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के दूरदर्शी मार्गदर्शन और मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के कुशल नेतृत्व में राज्य ने विकास, नवीकरणीय ऊर्जा को बढ़ावा देने, स्वास्थ्य के बुनियादी ढांचे को बढ़ाने, शहरी परिवेश को विकसित करने और जैव विविधता को संरक्षित करने जैसे विषयों पर काम किया है, जो सतत विकास और प्रभावी नीति क्रियान्वयन के प्रति उत्तराखंड सरकार की प्रतिबद्धता को रेखांकित करता है। अपने इस प्रयास के चलते प्रदेश ने कई एसडीजी लक्ष्यों में शीर्ष पांच राज्यों में स्थान प्राप्त किया है।

गरीबी उन्मूलन और वित्तीय सुरक्षा

गरीबी उन्मूलन में देवभूमि उत्तराखंड का प्रदर्शन सराहनीय रहा है, जो इस दिशा में राज्य के प्रयासों की सफलता को दर्शाता है। एसडीजी इंडिया इंडेक्स इस बात पर जोर देता है कि उत्तराखंड ने गरीबी के स्तर को कम करने, अपने नागरिकों के लिए वित्तीय सुरक्षा सुनिश्चित करने और प्रभावशाली सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों को लागू करने में किन महत्वपूर्ण उपलब्धियों को हासिल किया है। राज्य की प्रभावी नीतियों ने वंचित लोगों के लिए व्यवसाय सृजन, आवास, स्कूली शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे मूलभूत सुविधाओं तक पहुंच में सुधार के लिए लक्षित रणनीतियां शामिल होती हैं। इन प्रयासों ने सामूहिक रूप से गरीबी उन्मूलन में राज्य की शीर्ष रैंकिंग में योगदान दिया है।

सभी तक स्वास्थ्य लाभ पहुंचाने का प्रयास

उत्तराखंड राज्य ने स्वास्थ्य सेवाओं को बढ़ावा देने में उल्लेखनीय प्रगति की है। राज्य की स्वास्थ्य सेवा प्रणाली ने मां और बच्चे के स्वास्थ्य, टीकाकरण कवरेज, संचारी और गैर-संचारी रोगों के प्रबंधन के साथ विभिन्न हेल्थ इंडीकेटर्स में उत्कृष्ट प्रगति की है। स्वास्थ्य सेवा के बुनियादी ढांचे को मजबूत करने, दूरदराज के इलाकों तक स्वास्थ्य सुविधाओं का लाभ पहुंचाने और स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार लाने में सरकार का प्रयास कारगर सिद्ध हुआ है। स्वास्थ्य एजेंडा और सार्वजनिक स्वास्थ्य में विस्तारित निवेश ने उत्तराखंड की रैंकिंग को और मजबूती दी है। इससे उत्तराखंड सर्वोच्च उपलब्धि हासिल करने वाले राज्यों में शामिल हो गया है।

किफायती और स्वच्छ ऊर्जा का विस्तार

एसडीजी इंडिया इंडेक्स में उत्तराखंड की उपलब्धियां नागरिकों तक पर्याप्त, सतत व स्वच्छ ऊर्जा की पहुंच सुनिश्चित करने पर जोर देती हैं। राज्य ने अक्षय ऊर्जा क्षमता को बढ़ाने, विशेष रूप से अपनी जलविद्युत क्षमता का उपयोग करने की दिशा में उल्लेखनीय कदम उठाए हैं। इसके अलावा, उत्तराखंड ने ऊर्जा दक्षता को बढ़ाने, ग्रामीण और दूरदराज के क्षेत्रों में बिजली ग्रिड के विस्तार पर ध्यान दिया है, जिससे स्वच्छ ऊर्जा तक समग्र पहुंच सुनिश्चित हो सकी है। इन उपायों ने ऊर्जा सुरक्षा में सुधार के साथ पर्यावरणीय स्थिरता में योगदान दिया है। इससे राज्य इस वर्गीकरण में अग्रणी स्थान प्राप्त कर सका है।

उत्तराखंड ने स्वास्थ्य, स्वच्छ ऊर्जा, गरीबी उन्मूलन, शहरी स्थिरता और पर्यावरण संरक्षण सहित कई अहम क्षेत्रों में अग्रणी रहकर नए मानक स्थापित किए हैं

समावेशी और सतत शहरी समुदायों का विकास

उत्तराखंड ने शहरों और मानव क्षेत्रों को समावेशी, सुरक्षित और टिकाऊ बनाने के लिए सराहनीय कदम उठाए हैं। राज्य ने बुनियादी ढांचे को बढ़ाने, सार्वजनिक सेवाओं में सुधार करने और सतत शहरीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए कई महानगरीय विस्तार प्रयासों को लागू किया है। आवश्यक उपक्रमों में स्मार्ट शहरों का विकास, किफायती आवास योजनाएं और शहरी नियोजन में आपदा जोखिम को कम करने के प्रयासों का एकीकरण शामिल है। इन प्रयासों ने शहरी नागरिकों के जीवन गुणवत्ता में सुधार किया है और उत्तराखंड को सतत विकसित शहरों व समुदायों के निर्माण में शीर्ष राज्यों में शामिल किया है।

"मैं उत्तराखंड सरकार को पिछले कुछ वर्षों में हासिल की गई उपलब्धियों के लिए बधाई देता हूं। यह पर्यटन और नवीकरणीय ऊर्जा जैसे प्रमुख क्षेत्रों पर निरंतर नीतिगत प्रोत्साहन और इस पर ध्यान देने से ही संभव हुआ है। साथ ही, राज्य ने बुनियादी ढांचे के विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है, जो सतत विकास के लिए एक मानक स्थापित करता है। अपने प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग और पर्यटन को बढ़ावा देने की प्रतिबद्धता ने न केवल यहां की अर्थव्यवस्था को मजबूती दी है, बल्कि वैश्विक मंच पर राज्य ने अपनी क्षमता को प्रदर्शित किया है। मैं समावेशी विकास के लिए राज्य के समर्पण की सराहना करता हूं और आने वाले वर्षों में इसकी निरंतर सफलता की आशा करता हूं।

-नरेंद्र मोदी, प्रधानमंत्री

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र और जैव विविधता का संरक्षण

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र और जैव विविधता को बनाए रखने के लिए उत्तराखंड की प्रतिबद्धता एसडीजी इंडिया इंडेक्स रैंकिंग में सफलता पर देखी जा सकती है। राज्य ने जंगलों को बचाने, टिकाऊ पुनर्वनीकरण, जंगल की विविधता को समझने और भूमि क्षरण को रोकने के लिए अथक प्रयास शुरू किए हैं।

उत्तराखंड की समृद्ध जैव विविधता और विशाल वन क्षेत्र राज्य की महत्वपूर्ण संपत्ति हैं, जिन्हें विभिन्न पर्यावरणीय दृष्टिकोण और समुदाय-आधारित संरक्षण एजेंडा से संरक्षित किया गया है। सतत खेती और वानिकी तकनीकों को बढ़ावा देने के उपायों ने राज्य के पारिस्थितिक सामंजस्य को और मजबूत किया है, जिससे प्राकृतिक संसाधनों के दीर्घकालिक बने रहने का विश्वास मिलता है। विश्वास के लिए उत्तराखंड की समग्र रणनीति ने सम्मानित समर्थांचल और पर्यावरण प्रबंधन के साथ अधिक विकास को भी शामिल किया गया है, जो राज्य के सतत विकास लक्ष्यों के प्रति उनके समर्पण को दर्शाते हैं।

उत्तराखंड ने सकल पर्यावरण उत्पाद (जीईपी) सूचकांक शुरू करने का ऐतिहासिक कदम उठाया है। इस तरह से उत्तराखंड पारिस्थितिकी को अर्थव्यवस्था से जोड़ने वाला पहला भारतीय राज्य बन गया है

सकल पर्यावरण उत्पाद सूचकांक शुरू करने वाला पहला राज्य बना उत्तराखंड

उत्तराखंड ने सकल पर्यावरण उत्पाद (जीईपी) सूचकांक शुरू करने का ऐतिहासिक कदम उठाया है, जो प्रदेश की पारिस्थितिकी को अर्थव्यवस्था से जोड़ने वाला अनूठा कदम है। इसके साथ ही उत्तराखंड ऐसा अग्रणी प्रयास शुरू करने वाला पहला भारतीय राज्य भी बन गया है। जीईपी सूचकांक हाल ही में मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी द्वारा लॉन्च किया गया और इसमें चार जरूरी तत्वों को शामिल किया गया है, जिसमें वायु, जल, वन और मिट्टी की गुणवत्ता के आधार पर राज्य के पर्यावरणीय स्वास्थ्य का मूल्यांकन किया जाता है। जीईपी 2020 से 2022 तक के समेकित डेटा के माध्यम से 0.9% की वृद्धि को दर्शाता है, जो विस्तार के साथ अनुकूल पर्यावरणीय रुझानों का संकेत देता है।

मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी ने वित्तीय विकास और पारिस्थितिकी संरक्षण के बीच संतुलन को सुनिश्चित करने में इस प्रयास के महत्व पर प्रकाश डाला। जीईपी सूचकांक भावी पर्यावरण संरक्षण उद्देश्यों को बनाने और प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा के महत्व के बारे में लोगों की समझ बढ़ाने में महत्वपूर्ण पहल के रूप में कार्य करेगा। मुख्यमंत्री ने उत्तराखंड की समृद्ध प्राकृतिक विरासत पर जोर देते हुए व्यापक पौधरोपण, जल संरक्षण संबंधी उपायों के माध्यम से वन संपदा के प्रभावी उपयोग और जल स्रोतों के पुनरुद्धार की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला।

जीईपी की अवधारणा पर्यावरणविद् डॉ. अनिल प्रकाश जोशी द्वारा परिकल्पित की गई थी और यह पर्यावरणीय सेवाओं को आर्थिक मूल्य के साथ बेहतर सामंजस्य स्थापित करने पर जोर देती है। साथ ही, पारिस्थितिक प्रभाव को ठोस आधार भी प्रदान करती है। उत्तराखंड पर्यावरणीय विरासत के साथ विकास को संतुलित करने में जीईपी सूचकांक की शुरुआत के साथ विशिष्ट उदाहरण पेश कर रहा है। राज्य अपने नागरिकों के बेहतर कल को सुनिश्चित करते हुए अन्य राज्यों को भी इसके अनुसरण के लिए प्रेरित कर रहा है।

PIC: DIPR, UTTARAKHAND GOVERNMENT

विकास को पर्यावरणीय स्थिरता के साथ संतुलित करने में जीईपी सूचकांक की शुरुआत करके विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा है उत्तराखंड

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मार्गदर्शन और मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के कुशल नेतृत्व में शुरू की गई 'एक जिला दो उत्पाद' योजना का उद्देश्य राज्य के सभी 13 जिलों में स्थानीय उत्पादों को बढ़ावा देना और स्वरोजगार के अवसर सृजित करना है

उत्तराखंड सरकार की ओडीटीपी योजना: स्थानीय आर्थिक सशक्तिकरण की दिशा में बड़ा कदम

उत्तराखंड की 'एक जिला दो उत्पाद योजना' यानी (ODTP) योजना अक्टूबर 2021 में मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी द्वारा शुरू की गई एक अभिनव पहल है। इसका उद्देश्य राज्य के सभी 13 जिलों में स्थानीय उत्पादों को बढ़ावा देना और स्वरोजगार के अवसर सृजित करना है। राज्य सरकार का उद्देश्य पारंपरिक और शिल्प उद्योगों पर ध्यान रखते हुए हर जिले में बाजार की मांग के अनुसार कौशल विकास, डिजाइन और कच्चे माल से नई तकनीक के आधार पर दो उत्पाद विकसित करना है।

आर्थिक व रोजगार के दृष्टिकोण से दिख रहा सकारात्मक प्रभाव

ओडीटीपी योजना का एक अहम पहलू स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर सृजित करना भी है। जिलों में स्थानीय उत्पादों को पहचान कर वहां के पारंपरिक और शिल्प उद्योगों को विकसित करना है। 'एक जिला दो उत्पाद' योजना के तहत अब उत्तराखंड के स्थानीय उत्पादों को देश और दुनिया के बाजार में पहचान मिलेगी। उत्पादों का कारोबार बढ़ने से रोजगार के अवसर भी बढ़ेंगे। बाजार की मांग के आधार पर उत्पाद विकसित करके और आधुनिक तकनीक का उपयोग करके, यह योजना पैकेजिंग, परीक्षण और लॉजिस्टिक्स सहित विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार पैदा करती है। व्यापार और निर्यात के अवसरों में वृद्धि से रोजगार को और बढ़ावा मिलने की उम्मीद है, जिससे स्थानीय किसानों, कारीगरों और शिल्पकारों को लाभ होगा।

व्यापक रणनीति तैयार

उत्तराखंड सरकार ने ओडीटीपी योजना के सफल कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए एक व्यापक रणनीति तैयार की है। इसमें जिला स्तर पर पैकेजिंग, परीक्षण, विस्तार और लॉजिस्टिक्स के लिए सुविधाएं शामिल हैं। इन संरचनाओं को सुदृढ़ करते हुए योजना के माध्यम से चुने गए उत्पादों की गुणवत्ता और बाजार तक पहुंच को बेहतर बनाना है। कौशल विकास और डिजाइन संवर्द्धन भी इस कार्यान्वयन रणनीति का अहम हिस्सा है। स्थानीय कारीगरों और शिल्पकारों को आधुनिक कौशल और डिजाइन तकनीकों से लैस करके, योजना यह सुनिश्चित करती है कि उत्पाद समकालीन बाजार की मांगों को पूरा करें। यह समग्र दृष्टिकोण न केवल पारंपरिक शिल्प कौशल को संरक्षित करता है, बल्कि इसे आज के बाजार के अनुरूप भी बनाता है।

बाजार और निर्यात की संभावनाएं

ओडीटीपी योजना का उद्देश्य उत्तराखंड के स्थानीय उत्पादों को घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय दोनों बाजारों में स्थापित करना है। इन उत्पादों को बढ़ावा देकर, उनकी दृश्यता और मांग को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। इसके तहत पैकेजिंग, ब्रांडिंग और मार्केटिंग को बेहतर बनाने के लिए सरकार की ओर से असीमित प्रयास किए जा रहे हैं। बाजार में इस योजना को बढ़ावा देने में पर्यटन की भी अहम भूमिका है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने पर्यटकों को आने कुल खर्च का कम से कम 5% स्थानीय उत्पादों पर खर्च करने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह पहल न केवल स्थानीय अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देती है, बल्कि उत्तराखंड की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने में भी मदद करती है।

मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी स्थानीय कारीगरों से उत्पाद की जानकारी लेते हुए।

PIC: DIPR, UTTARAKHAND GOVERNMENT

स्थानीय पारंपरिक शिल्प को मिल रही मान्यता

स्थानीय उत्पादों को मिल रहा राष्ट्रीय व वैश्विक मंच

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी त्रिवेणी शिखर सम्मेलन 2023 के दौरान पवेलियन अथॉरिटी (एसएमई) में बात करते हुए

PIC: DIPR, UTTARAKHAND GOVERNMENT

'एक जिला एक उत्पाद' (ODOP) योजना आत्मनिर्भर भारत अभियान के तहत एक प्रयास है, जिसका उद्देश्य क्षेत्रीय उत्पादों को बढ़ावा देना और देशभर के जिलों में वितीय विकास को बढ़ावा देना है। प्रत्येक जिले के उत्कृष्ट उत्पादों को मान्यता देकर और उन्हें पहचान दिलाकर, यह योजना विनिर्माण को सुविधाजनक बनाने, क्षेत्रीय कारीगरों की मदद करने और देश व दुनिया के बाजारों में इन उत्पादों के लिए एक मंच प्रदान करने का प्रयास करती है। हाल ही में, उत्तराखंड और इसके सीमावर्ती जिले उत्तरकाशी ने इस योजना में देशभर में प्रांरभ सम्मिलित की है, जो राज्य के लिए एक उत्साहजनक उपलब्धि है।

उत्तराखंड की प्रांरभ आत्मनिर्भर भारत उत्सव 2024 पुरस्कारों के दौरान हुई, जहां उत्तराखंडी जिले ने तुबेरी बेरी में लाल चावल के उत्पादन के लिए दूसरा पुरस्कार जीता। यह पुरस्कार निवेश मंत्री डॉ. एस जयशंकर और वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री पीयूष गोयल द्वारा दिया गया। उत्तराखंड की और से उत्तरकाशी के तत्कालीन डीएम अभिषेक रौहिल्ला ने यह सम्मान प्राप्त किया।

उत्तरकाशी के लाल चावल ने अपने स्वास्थ्यवर्धक गुणों के कारण काफी ध्यान आकर्षित किया है। चावल की यह किस्म पोषण के मामले में बहुत महत्वपूर्ण है। इसे जीआई टैग भी मिल हुआ है, जिससे इसकी मार्केटिंग और प्रतिष्ठा में भी सुधार हुआ है। उत्तरकाशी के लाल चावल को एक महत्वपूर्ण कृषि उत्पाद के रूप में पहचान कर इसे राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर पहचान बनाने की सम्भावना पर जोर देता है। लाल चावल जो उत्तरकाशी के विभिन्न जिलों के ओडीओपी योजना के तहत विशेष उत्पादों के रूप में मान्यता दी गई है। हर जिले का विशेष उत्पाद उत्तराखंड की क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था की समृद्ध विविधता और संभावनाओं का प्रतीक है।

इन सहायक प्रयासों में कॉमन फैसिलिटी सेंटर (सीएफसी) योजना भी शामिल है, जो परिवेशन व्यय का 90 प्रतिशत तक आर्थिक सहायता प्रदान करती है। इससे स्थानीय उत्पादकों को अपने उत्पादन प्रतिष्ठानों में सुधार करने और अपने उत्पाद की गुणवत्ता बढ़ाने में मदद मिलती है। विकास विकास सहायता योजना राष्ट्रव्यापी योजना भी प्रदर्शिनियों व मेलों के प्रतिभागियों को अधिक सहायता प्रदान करती है। इससे उन्हें अपने ओडीओपी- चयनित उत्पादों का प्रदर्शन और विकास करने का अवसर मिलता है। इसके अलावा, मार्जिन मनी स्कीम इस परिवेशनाओं की स्थापना के लिए सहायता प्रदान करती है, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि आर्थिक सीमाएं स्थानीय उद्यमों के विकास में बाधा न बनें।

राज्य (क्षेत्री सी)

रैंक	राज्य	पुरस्कार
1.	जम्मू-कश्मीर	स्वर्ण
2.	उत्तराखंड	रजत
3.	मेघालय	कांस्य
4.	सिक्किम	कांस्य

उत्तराखंड बन रहा आयुष एवं वेलनेस डेस्टिनेशन

उत्तराखंड आयुष नीति ला रही स्वास्थ्य सेवाओं में व्यापक बदलाव

मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी ने अपनी आवि कैलाश यात्रा से इस क्षेत्र को एक उल्लेखनीय तीर्थस्थल के रूप में बढ़ावा देने का प्रयास किया

योग और ध्यान के प्रति प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के लगाव ने सदियों पुरानी परंपराओं के प्रति उत्तराखंड में लोकप्रियता को नए आयाम दिए हैं

उत्तराखंड की आयुष नीति में स्वास्थ्य देखभाल प्रक्रियाओं को शामिल करने के साथ ही सम्पूर्ण स्वास्थ्य और आर्थिक विकास संबंधी उद्यमशील नीतियों को भी शामिल किया गया है।

आयुष नीति का उद्देश्य इसका लाभ उठाकर क्षेत्र के 1,000 से अधिक दूरस्थ औषधीय पौधों की खेती को सक्षम बनाना है। मुख्यमंत्री औषधीय पौध विकास कार्यक्रम जैसे प्रयासों से 50,000 किसानों को इन पौधों की खेती में शामिल करने, इस तरह की खेती के तरीकों को बढ़ावा देने और क्षेत्रीय रुजस्व में वृद्धि करने की योजना है।

आयुष उत्पादन को लेकर उत्तराखंड पहले से ही एक विशेष अभियान चला रहा है। इसमें पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल और व्यावसायिक आवश्यकताओं पर जोर दिया जा रहा है। राज्य में कई GMP- प्रमाणित विनिर्माण सिधान है, जो आयुष दवाओं और उपभोक्ता वस्तुओं की एक विस्तृत श्रृंखला बनाते हैं। नई नीति के तहत, अधिक इकाइयों को WHO GMP प्रमाण प्राप्त करने और वैश्विक गुणवत्ता मानदंडों का पालन करने में सक्षम बनाने के लिए प्रोत्साहन और सहायता प्रदान की जाएगी। यह एक सकारात्मक कदम है और इससे राज्य के सकल घरेलू उत्पाद में और सुधार होने की उम्मीद है, जिसका योगदान वर्तमान में 4,000-5,000 करोड़ रुपये है।

प्रदेश में आयुष सेवाओं को अगले पांच वर्षों तक जन-जन तक पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया है। उत्तराखंड आयुष नीति में पांच वर्षों के भीतर एनबीएएस/ अस्पतालों और स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं के लिए राष्ट्रीय प्रत्यायन बोर्ड) के तहत सभी सरकारी आयुष स्वास्थ्य केंद्रों को मान्यता देने की बात कही गई है।

#ExploreUttarakhand

@DIPR_UK

CONSUMER CONNECT INITIATIVE

Text by Taresh Dutta

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)

उत्तराखण्ड शासन

आज़ादी का अमृत महोत्सव

G20 भारत 2023 INDIA
वसुधैव कुटुम्बकम्
ONE EARTH ONE FAMILY ONE FUTURE

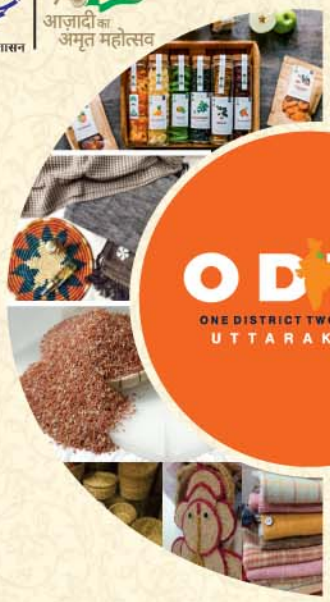

संकल्प
नये उत्तराखण्ड का

ODTP
ONE DISTRICT TWO PRODUCTS
UTTARAKHAND

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

एक जिला-दो उत्पाद योजना से स्थानीय उत्पादों को मिल रही नई पहचान

अल्मोड़ा
बाल मिठाई | टवीड्

हरिद्वार
जैगरी | शहद

पिथौरागढ़
ऊनी कार्पेट | मुनस्यारी राजमा

बागेश्वर
ताम्रशिल्प उत्पाद | कीवी आधारित उत्पाद

नैनीताल
ऐपण क्राफ्ट | फल प्रसंस्करण

रुद्रप्रयाग
मन्दिर अनुकृति हस्तशिल्प | चौलाई आधारित उत्पाद

चमोली
हथकरघा एवं कार्पेट | गुलाब जल

पौड़ी
वुडन क्राफ्ट | हर्बल मेडिसिन

टिहरी गढ़वाल
पनीर | टिहरी नथ

चम्पावत
लौह शिल्प उत्पाद | शहद

देहरादून
बेकरी उत्पाद | मशरुम

पर्यटक अपने यात्रा व्यय का 5% स्थानीय उत्पादों पर खर्च करें: प्रधानमंत्री

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने आत्मनिर्भर भारत के लक्ष्य को हासिल करने के लिए वोकल फॉर लोकल की बात कही है। स्थानीय उत्पादों को बढ़ावा दिये जाने के उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा वन डिस्ट्रिक्ट वन प्रोडक्ट की शुरुआत की गई।

मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के नेतृत्व में उत्तराखण्ड सरकार ने इस योजना को वन डिस्ट्रिक्ट टू प्रोडक्ट के रूप में आगे बढाया है। बदरीनाथ धाम के निकट माणा गांव में आयोजित कार्यक्रम में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने देशवासियों से अपील की थी कि कहीं भी घूमने जाएं तो अपने यात्रा व्यय का 5 प्रतिशत स्थानीय उत्पादों पर खर्च करें। इससे स्थानीय आर्थिकी मे जबरदस्त परिवर्तन देखने को मिलेगा। किसी भी क्षेत्र की पहचान उनकी भाषा-बोली एवं स्थानीय उत्पादों से होती है, इनको बढ़ावा देने के लिए हर संभव प्रयास किये जाने चाहिए।

उधमसिंहनगर
मेंथा ऑयल | मूंज ग्रास उत्पाद

उत्तरकाशी
लाल चावल | ऐपल फ्रुट बेस उत्पाद